श्रावकधर्मविधिप्रकरण

म. विनयसागर   सुरेन्द्र बोथरा

प्रधान सम्पादक :
साहित्यवाचस्पति म० विनयसागर
डॉ० भागचन्द जैन 'भास्कर'

प्राकृत भारती पुष्प - १३४
पार्श्वनाथ विद्यापीठ ग्रन्थमाला - १३२

श्री हरिभद्रसूरि प्रणीत

श्रावकधर्मविधिप्रकरण

(मूल, हिन्दी व अंग्रेजी अनुवाद तथा विस्तृत भूमिका)

हिन्दी अनुवाद एवं सम्पादन
म. विनयसागर

अंग्रेजी अनुवाद
सुरेन्द्र बोथरा

भूमिका
डॉ. सागरमल जैन

प्रकाशक

प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर
पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी

प्रकाशक :

सचिव, प्राकृत भारती अकादमी

१३ - ए, मेन मालवीय नगर,

जयपुर - ३०२०१७

☎ ०१४१ - ५२४८२७, ५२४८२८

सचिव, पार्श्वनाथ विद्यापीठ,

आई. टी. आई. रोड, करौंदी,

वाराणसी - २२१००५

☎ ०५४२-३१६५२१, ३१८०४६

ISBN-81-86715-58-4

प्रथम संस्करण : २००१

मूल्य : 100/-

कम्प्यूटरीकरण : **मंजुल जैन**

प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर

मुद्रक : **कमल प्रिन्टर्स**,जयपुर

ŚRĀVAKA DHARMA VIDHI PRAKARAṆAM

of Śri Haribhadra Sūri

✡ **Translators** : M. Vinay Sagar & Surendra Bothara ✡

प्रकाशकीय

जैनधर्म शासन-व्यवस्था का अर्धांग है श्रावक। मोक्षमार्ग की साधना का प्रथम सोपान श्रावकाचार से आरंभ होता है। महाव्रतों के कष्टसाध्य मार्ग पर बढने से पहले अणुव्रत रूप श्रावक-धर्म के परिपालन की परिपाटी आदिकाल से चली आ रही है। श्रावक धर्म की विशेषता यह है कि वह केवल मोक्षमार्ग की साधना नहीं है प्रत्युत सांसारिक जीवन को भी व्यवस्थित और सन्मार्गगामी बनाने का साधन है।

इसी श्रावकाचार को संक्षिप्त किन्तु व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत किया है याकिनीमहत्तरासूनु आचार्य हरिभद्रसूरि ने। रचना के अंतिम पद में "भवविरहांक" शब्द का उल्लेख इस बात की पुष्टि करता है कि इसके रचनाकार कोई अन्य हरिभद्रसूरि नहीं, अपितु जैन मनीषी आचार्यों की प्रथम श्रेणी /आप्त कोटि में स्थापित आचार्य हरिभद्रसूरि ही थे।

इस पुस्तक का प्रथम संस्करण श्री मानदेवसूरि रचित टीका के साथ श्री जैन आत्मानन्द सभा भवन, भावनगर से १९२४ ईस्वी में प्रकाशित हुआ था जिसका संकलन-संशोधन प्रवर्तक श्री कांतिविजयजी म० के शिष्यरत्न श्री चतुरविजयजी म० ने किया था। यह संस्करण वर्तमान में अनुपलब्ध है।

श्रावक समुदाय के लिए इसकी उपयोगिता देखते हुए तथा प्राकृत साहित्य के अध्येताओं तथा शोधार्थियों के लिए इस विषय की प्रामाणिक सामग्री उपलब्ध कराने के उद्देश्य से प्राकृत भारती एवं पार्श्वनाथ विद्यापीठने इस संस्करण के संयुक्त प्रकाशन की योजना बनाई। जैन साहित्य एवं प्राकृत के प्रमुख विद्वान् महोपाध्याय विनयसागरजी ने इसका हिन्दी अनुवाद एवं संपादन किया। जैन वाङ्मय के प्रतिष्ठित विद्वान् एवं पार्श्वनाथ विद्यापीठ के

मानद निदेशक डॉ० सागरमलजी जैन ने हिन्दी अनुवाद का परिमार्जन किया तथा इसकी विस्तृत प्रस्तावना तैयार की, जिसमें आचार्य हरिभद्रसूरि के सभी ग्रन्थों का विहगावलोकन सम्मिलित है। देश-विदेश में अंग्रेजीभाषी लोगों की जैनधर्म और संस्कृति के प्रति बढती रुचि को देखते हुए इसमें श्री सुरेन्द्र बोथरा द्वारा कृत अंग्रेजी अनुवाद भी सम्मिलित किया गया है। हम इन सभी विद्वान सहयोगियों के प्रति धन्यवाद प्रकट करते हैं।

दो ख्यातिलब्ध संस्थाओं के संयुक्त प्रकाशन का यह तीसरा पुष्प है। हमें आशा है ऐसे संयुक्त प्रकाशनों की इस कड़ी में हम भविष्य में भी अपने पाठकों को महत्त्वपूर्ण साहित्य उपलब्ध कराते रहेंगे।

सचिव
पार्श्वनाथ विद्यापीठ
वाराणसी

सचिव
प्राकृत भारती अकादमी
जयपुर

भूमिका

आचार्य हरिभद्र जैनधर्म के प्रखर प्रतिभा सम्पन्न एवं बहुश्रुत आचार्य माने जाते हैं। उन्होंने अपनी लेखनी के द्वारा विपुल एवं बहुआयामी साहित्य का सृजन किया है। उन्होंने दर्शन, धर्म, योग, आचार, उपदेश, व्यंग्य और चरित-काव्य आदि विविध विधाओं के ग्रन्थों की रचना की है। मौलिक साहित्य के साथ-साथ उनका टीका साहित्य भी विपुल है। जैन धर्म के योग सम्बन्धी साहित्य के तो वे आदि प्रणेता हैं। इसी प्रकार आगमिक ग्रन्थों की संस्कृत भाषा में टीका करने वाले जैन-परम्परा में वे प्रथम टीकाकार भी हैं। उनके पूर्व तक आगमों पर जो निर्युक्ति और भाष्य लिखे गये थे वे मूलत: प्राकृत भाषा में ही थे। भाष्यों पर आगमिक व्यवस्था के रूप में जो चूर्णियाँ लिखी गयी थीं वे भी संस्कृत-प्राकृत मिश्रित भाषा में लिखी गयीं। विशुद्ध संस्कृत भाषा में आगमिक ग्रन्थों की टीका लेखन का सूत्रपात तो आचार्य हरिभद्र ने ही किया। भाषा की दृष्टि से उनके ग्रन्थ संस्कृत और प्राकृत दोनों ही भाषाओं में मिलते हैं। अनुश्रुति तो यह है कि उन्होंने १४४४ ग्रन्थों की रचना की थी, किन्तु वर्तमान में हमें उनके नाम पर चढे हुए लगभग ७५ ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। यद्यपि विद्वानों की यह मान्यता है कि इनमें से कुछ ग्रन्थ वस्तुत: याकिनीसूनु हरिभद्र की कृति न होकर किन्हीं दूसरे हरिभद्र नामक आचार्यो की कृतियाँ हैं। पंडित सुखलालजी ने इनमें से लगभग ४५ ग्रन्थों को तो निर्विवाद रूप से उनकी कृति स्वीकार किया है। इनमें भी यदि हम अष्टक-प्रकरण के प्रत्येक अष्टक को, षोडशकप्रकरण के प्रत्येक षोडशक को, विंशिकाओं में प्रत्येक विंशिका को तथा पञ्चाशक में प्रत्येक पञ्चाशक को स्वतन्त्र ग्रन्थ मान लें तो यह संख्या लगभग २०० के समीप पहुँच जाती है। इससे यह सिद्ध होता है कि आचार्य हरिभद्र एक प्रखर प्रतिभा के धनी आचार्य थे और साहित्य की प्रत्येक विधा को उन्होंने अपनी रचनाओं से समृद्ध किया था।

प्रतिभाशाली और विद्वान् होना वस्तुत: तभी सार्थक होता है जब व्यक्ति में सत्यनिष्ठा और सहिष्णुता हो। आचार्य हरिभद्र उस युग के विचारक हैं जब भारतीय चिन्तन में और विशेषकर दर्शन के क्षेत्र में वाक्-छल और खण्डन-

मण्डन की प्रवृत्ति बलवती बन गयी थी। प्रत्येक दार्शनिक स्वपक्ष के मण्डन एवं परपक्ष के खण्डन में ही अपना बुद्धि कौशल मान रहा था। मात्र यही नहीं, दर्शन के साथ-साथ धर्म के क्षेत्र में भी पारस्परिक विद्वेष और घृणा अपनी चरम सीमा पर पहुँच चुकी थी। स्वयं आचार्य हरिभद्र को भी इस विद्वेष भावना के कारण अपने दो शिष्यों की बलि देनी पड़ी थी। हरिभद्र की महानता और धर्म एवं दर्शन के क्षेत्र में उनके अवदान का सम्यक् मूल्यांकन तो उनके युग की इन विषम परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में ही किया जा सकता है। आचार्य हरिभद्र की महानता तो इसी में निहित है कि उन्होंने शुष्क वाग्जाल तथा घृणा एवं विद्वेष की उन विषम परिस्थितियों में भी समभाव, सत्यनिष्ठा, उदारता, समन्वयशीलता और सहिष्णुता का परिचय दिया। यहाँ यह अवश्य कहा जा सकता है कि समन्वयशीलता और उदारता के ये गुण उन्हें जैन दर्शन की अनेकान्त दृष्टि के रूप में विरासत में मिले थे, फिर भी उन्होंने अपने जीवन-व्यवहार और साहित्य-सृजन में इन गुणों को जिस शालीनता के साथ आत्मसात् किया था वैसे उदाहरण स्वयं जैन-परम्परा में भी विरल ही हैं।

आचार्य हरिभद्र का अवदान धर्म-दर्शन, साहित्य और समाज के क्षेत्र में कितना महत्वपूर्ण है इसकी चर्चा करने से पूर्व यह आवश्यक है कि हम उनके जीवनवृत्त और युगीन परिवेश के सम्बन्ध में कुछ विस्तार से चर्चा कर लें।

जीवनवृत्त

यद्यपि आचार्य हरिभद्र ने उदार दृष्टि से विपुल साहित्य का सृजन किया, किन्तु अपने सम्बन्ध में जानकारी देने के सम्बन्ध में वे अनुदार या संकोची ही रहे। प्राचीन काल के अन्य आचार्यों के समान ही उन्होंने भी अपने सम्बन्ध में स्वयं कहीं कुछ नहीं लिखा। उन्होंने ग्रन्थ-प्रशस्तियों में जो कुछ संकेत दिए हैं उनसे मात्र इतना ही ज्ञात होता है कि वे जैन धर्म की श्वेताम्बर शाखा के विद्याधर कुल से सम्बन्धित थे। इन्हें महत्तरा याकिनी नामक साध्वी की प्रेरणा से जैन धर्म का बोध प्राप्त हुआ था, अतः उन्होंने अपनी अनेक रचनाओं में अपने आपको याकिनीसूनु के रूप में प्रस्तुत किया है। इन्होंने अपने ग्रन्थों में अपने उपनाम '**भवविरह**' का संकेत किया है। कुवलयमाला में उद्योतनसूरि ने इनका इस उपनाम के साथ स्मरण किया है। जिन ग्रन्थों में इन्होंने '**भवविरह**' उपनाम का संकेत किया है वे ग्रन्थ हैं —

अष्टक, षोडशक, पञ्चाशक, धर्मबिन्दु, ललितविस्तरा, शास्त्रवार्तासमुच्चय, पञ्चवस्तुटीका, अनेकान्तजयपताका, योगबिन्दु,

संसारदावानल-स्तुति, उपदेशपद, धर्मसंग्रहणी,श्रावकधर्मविधिप्रकरण और सम्बोध-प्रकरण। हरिभद्र के सम्बन्ध में उनके इन ग्रन्थों से इससे अधिक या विशेष सूचना उपलब्ध नहीं होती।

आचार्य हरिभद्र के जीवन के विषय में उल्लेख करने वाला सब से प्राचीन ग्रन्थ भद्रेश्वर की कहावली है। इस ग्रन्थ में उनके जन्म-स्थान का नाम बंभपुनी उल्लिखित है, किन्तु अन्य ग्रन्थों में उनका जन्म स्थान चित्तौड़ या चित्रकूट माना जाता है। सम्भावना है कि ब्रह्मपुरी चित्तौड़ का कोई उपनगर या कस्बा रहा होगा। कहावली के अनुसार इनके पिता का नाम शंकर भट्ट और माता का नाम गंगा था। पं० सुखलालजी का कथन है कि पिता के नाम के साथ भट्ट शब्द सूचित करता है कि वे जाति से ब्राह्मण थे। ब्रह्मपुरी में उनका निवास भी उनके ब्राह्मण होने के अनुमान की पुष्टि करता है। गणधरसार्धशतक और अन्य ग्रन्थों में उन्हें स्पष्ट रूप से ब्राह्मण कहा गया है। धर्म और दर्शन की अन्य परम्पराओं के सन्दर्भ में उनके ज्ञानगाम्भीर्य से भी इस बात की पुष्टि होती है कि उनका जन्म और शिक्षा-दीक्षा ब्राह्मण कुल में ही हुई होगी।

कहा यह जाता है कि उन्हें अपने पाण्डित्य पर गर्व था और अपनी विद्वत्ता के इस अभिमान में आकर ही उन्होंने यह प्रतिज्ञा कर ली थी कि जिसका कहा हुआ समझ नहीं पाऊँगा उसी का शिष्य हो जाऊँगा। जैन अनुश्रुतियों में यह माना जाता है कि एक बार वे जब रात्रि में अपने घर लौट रहे थे तब उन्होंने एक वृद्धा साध्वी के मुख से प्राकृत की निम्न गाथा सुनी जिसका अर्थ वे नहीं समझ सके —

चक्कीदुगं हरिपणगं पणगं चक्की केसवो चक्की।
केसव चक्की केसव दु चक्की केसी अ चक्की अ॥

— **आवश्यकनिर्युक्ति, ४२१**

अपनी जिज्ञासुवृत्ति के कारण वे उस गाथा का अर्थ जानने के लिए साध्वीजी के पास गये। साध्वीजी ने उन्हें अपने गुरु आचार्य जिनदत्तसूरि के पास भेज दिया। आचार्य जिनदत्तसूरि ने उन्हें धर्म के दो भेद बताए — (१) सकामधर्म और (२) निष्कामधर्म। साथ ही यह भी बताया कि निष्काम या निःस्पृह धर्म का पालन करने वाला ही भवविरह अर्थात् मोक्ष को प्राप्त करता है। ऐसा लगता है कि प्राकृत भाषा और उसकी विपुल साहित्य-सम्पदा ने आचार्य हरिभद्र को जैन धर्म के प्रति आकर्षित किया हो और आचार्य द्वारा यह बताए जाने पर कि जैन साहित्य के तलस्पर्शी अध्ययन के लिये जैन मुनि

की दीक्षा अपेक्षित है, अतः वे उसमें दीक्षित हो गए। वस्तुतः एक राजपुरोहित के घर में जन्म लेने के कारण वे संस्कृत व्याकरण, साहित्य, वेद, उपनिषद्, धर्मशास्त्र, दर्शन और ज्योतिष के ज्ञाता तो थे ही जैन परम्परा से जुड़ने पर उन्होंने जैन साहित्य का भी गम्भीर अध्ययन किया। मात्र यही नहीं, उन्होंने अपने इस अध्ययन को पूर्व अध्ययन से परिपुष्ट और समन्वित भी किया। उनके ग्रन्थ योगसमुच्चय, योगदृष्टि, शास्त्रवार्तासमुच्चय, षड्दर्शनसमुच्चय आदि इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि उन्होंने अपनी पारिवारिक परम्परा से प्राप्त हुआ ज्ञान और जैन परम्परा में दीक्षित होकर अर्जित किए ज्ञान को एक दूसरे का पूरक बनाकर ही इन ग्रन्थों की रचना की है। हरिभद्र को जैनधर्म की ओर आकर्षित करने वाली जैन साध्वी महत्तरा याकिनी थीं, अतः अपना धर्म-ऋण चुकाने के लिये उन्होंने अपने को महत्तरा याकिनीसूनु अर्थात् याकिनी का धर्मपुत्र घोषित किया। उन्होंने अपनी रचनाओं में अनेकशः अपने साथ इस विशेषण का उल्लेख किया।[१] हरिभद्र के उपनाम के रूप में दूसरा विशेषण **'भवविरह'** है।[२] उन्होंने अपनी अनेक रचनाओं में इस उपनाम का निर्देश किया है। विवेच्य ग्रन्थ पञ्चाशक के प्रत्येक पञ्चाशक के अन्त में हमें 'भवविरह' शब्द मिलता है। अपने नाम के साथ यह भवविरह विशेषण लगाने का क्या कारण रहा होगा, यह कहना तो कठिन है फिर भी इस विशेषण का सम्बन्ध उनके जीवन की तीन घटनाओं से जोड़ा जाता है। सर्वप्रथम आचार्य जिनदत्त ने उन्हें भवविरह अर्थात् मोक्ष प्राप्त करने की प्रेरणा दी, अतः सम्भव है उनकी स्मृति में वे अपने को भवविरह का इच्छुक कहते हों। यह भी सम्भव है कि अपने प्रिय शिष्यों के विरह की स्मृति में उन्होंने यह उपनाम धारण किया हो। पं० सुखलालजी ने इस सम्बन्ध में निम्न तीन घटनाओं का संकेत किया है — (१) धर्मस्वीकार का प्रसंग, (२) शिष्यों के वियोग का प्रसंग और (३) याचकों को दिये जाने वाले आशीर्वाद का प्रसंग तथा उनके द्वारा भवविरहसूरि चिरंजीवी हो, कहे जाने का प्रसंग।[३] इस तीसरे प्रसंग का निर्देश कहावली में है।

हरिभद्र का समय

हरिभद्र के समय के सम्बन्ध में अनेक अवधारणाएँ प्रचलित हैं। अंचलगच्छीय आचार्य मेरुतुंग ने **विचारश्रेणी** में हरिभद्र के स्वर्गवास के सन्दर्भ में निम्न प्राचीन गाथा को उद्धृत किया है -

पंचसए पणसीए विक्कम कालाउ झत्ति अत्थिमओ।
हरिभद्दसूरीसरो भवियाणं दिसउ कल्लाणं॥

उक्त गाथा के अनुसार हरिभद्र का स्वर्गवास वि० सं० ५८५ में हुआ। इसी गाथा के आधार पर प्रद्युम्नसूरि ने अपने **विचारसारप्रकरण** एवं समयसुन्दरगणि ने स्वसंगृहीत **गाथासहस्री** में हरिभद्र का स्वर्गवास वि० सं० ५८५ में माना है। इसी आधार पर मुनि श्रीकल्याणविजयजी ने **धर्म-संग्रहणी** की अपनी संस्कृत प्रस्तावना में हरिभद्र का सत्ता-समय वि० सं० की छठी शताब्दी स्थापित किया है।

कुलमण्डनसूरि ने **विचारामृतसंग्रह** में और धर्मसागर उपाध्याय ने तपागच्छगुर्वावली में वीर-निर्वाण-सम्वत् १०५५ में हरिभद्र का समय निरूपित किया है —

पणपन्नदससएहिं हरिसूरि आसि तत्थ पुव्वकई।

परम्परागत धारणा के अनुसार वी० नि० के ४७० वर्ष पश्चात् वि० सं० का प्रारम्भ मानने से (४७०+५८५ = १०५५) यह तिथि पूर्वोक्त गाथा के अनुरूप ही वि० सं० ५८५ में हरिभद्र का स्वर्गवास निरूपित करती है।

आचार्य हरिभद्र का स्वर्गवास वि० सं० की छठी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुआ, इसका समर्थन निम्न दो प्रमाण करते हैं —

(१) तपागच्छ गुर्वावली में मुनिसुन्दरसूरि ने हरिभद्रसूरि को मानदेवसूरि द्वितीय का मित्र बताया है, जिनका समय विक्रम की छठी शताब्दी माना जाता है। अत: यह उल्लेख पूर्व गाथोक्त समय से अपनी संगति रखता है।

(२) इस गाथोक्त समय के पक्ष में दूसरा सबसे महत्त्वपूर्ण साक्ष्य हरिभद्र का **धूर्ताख्यान** है, जिसकी चर्चा मुनि जिनविजयजी ने **हरिभद्रसूरि का समय निर्णय** (पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, १९८८) में नहीं की थी। सम्भवत: उन्हें निशीथचूर्णि में धूर्ताख्यान का उल्लेख सम्बन्धी यह तथ्य ज्ञात नहीं था। यह तथ्य मुझे **धूर्ताख्यान** के मूल-स्रोत की खोज करते समय उपलब्ध हुआ है। धूर्ताख्यान के समीक्षात्मक अध्ययन में प्रोफेसर ए० एन० उपाध्ये ने हरिभद्र के प्राकृत धूर्ताख्यान का संघतिलक के संस्कृत धूर्ताख्यान पर और अज्ञातकृत मरुगुर्जर में निबद्ध धूर्ताख्यान पर प्रभाव की चर्चा की है। इस प्रकार उन्होंने धूर्ताख्यान को हरिभद्र की मौलिक रचना माना है। यदि धूर्ताख्यान की कथा का निबन्धन हरिभद्र ने स्वयं अपनी स्वप्रसूत कल्पना से किया है तो वे निश्चित ही निशीथभाष्य और निशीथचूर्णि के लेखन-काल से पूर्ववर्ती हैं, क्योंकि इन दोनों ग्रन्थों में यह कथा उपलब्ध है। भाष्य में इस कथा का सन्दर्भ निम्न रूप में उपलब्ध होता है —

सस-एलासाढ -मूलदेव, खण्डा य जुण्णउज्जाणे।
सामत्थणे को भत्तं, अक्खात जो ण सद्दहति ॥
चोरभया गावीओ, पोट्टलए बंधिऊण आणेमि।
तिलअइरूढकुहाडे, वणगय मलणा य तेल्लोदा ॥
वणगयपाटण कुडिय, छम्मास हत्थिलग्गणं पुच्छे।
रायरयग मो वादे, जहि पेच्छइ ते इमे वत्था ॥

भाष्य की उपर्युक्त गाथाओं से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि भाष्यकार को सम्पूर्ण कथानक जो कि चूर्णि और हरिभद्र के धूर्ताख्यान में है, पूरी तरह ज्ञात है, वे मृषावाद के उदाहरण के रूप में इसे प्रस्तुत करते हैं। अतः यह स्पष्ट है कि सन्दर्भ देने वाला ग्रन्थ उस आख्यान का आद्यस्रोत नहीं हो सकता। भाष्यों में जिस प्रकार आगमिक अन्य आख्यान सन्दर्भ के रूप में आये हैं, उसी प्रकार यह आख्यान भी आया है। अतः यह निश्चित है कि यह आख्यान भाष्य से पूर्ववर्ती है। चूर्णि तो स्वयं भाष्य पर टीका है और उसमें उन्हीं भाष्य गाथाओं की व्याख्या के रूप में लगभग तीन पृष्ठों में यह आख्यान आया है, अतः यह भी निश्चित है कि चूर्णि भी इस आख्यान का मूलस्रोत नहीं है। पुनः चूर्णि के इस आख्यान के अन्त में यह स्पष्ट लिखा है — **सेसं धुत्तावखाणगाहाणुसारेण** (पृ० १०५)। अतः निशीथभाष्य और चूर्णि इस आख्यान के आदि स्रोत नहीं माने जा सकते। किन्तु हमें निशीथभाष्य और निशीथचूर्णि से पूर्व रचित किसी ऐसे ग्रन्थ की कोई जानकारी नहीं है, जिसमें यह आख्यान आया हो।

जब तक अन्य किसी आदिस्रोत के सम्बन्ध में कोई जानकारी नहीं है, तब तक हरिभद्र के धूर्ताख्यान को लेखक की स्वकल्पनाप्रसूत मौलिक रचना क्यों नहीं माना जाये ? किन्तु ऐसा मानने पर भाष्यकार और चूर्णिकार, इन दोनों से ही हरिभद्र को पूर्ववर्ती मानना होगा और इस सम्बन्ध में विद्वानों की जो अभी तक अवधारणा बनी हुई है वह खण्डित हो जायेगी। यद्यपि उपलब्ध सभी पट्टावलियों तथा उनके ग्रन्थ लघुक्षेत्रसमास की वृत्ति में हरिभद्र का स्वर्गवास वीर-निर्वाण संवत् १०५५ या विक्रम संवत् ५८५ तथा तदनुरूप ईस्वी सन् ५२९ में माना जाता है। किन्तु पट्टावलियों में उन्हें विशेषावश्यकभाष्य के कर्त्ता जिनभद्र एवं जिनदास का पूर्ववर्ती भी माना गया है। अब हमारे सामने दो ही विकल्प हैं या तो पट्टावलियों के अनुसार हरिभद्र को जिनभद्र और जिनदास के पूर्व मानकर उनकी कृतियों पर विशेष रूप से जिनदास महत्तर पर

हरिभद्र का प्रभाव सिद्ध करें या फिर धूर्ताख्यान के मूल स्रोत को अन्य किसी पूर्ववर्ती रचना या लोक-परम्परा में खोजें। यह तो स्पष्ट है कि धूर्ताख्यान चाहे वह निशीथचूर्णि का हो या हरिभद्र का, स्पष्ट ही पौराणिक युग के पूर्व की रचना नहीं है। क्योंकि वे दोनों ही सामान्यतया श्रुति, पुराण, भारत (महाभारत) और रामायण का उल्लेख करते हैं। हरिभद्र ने तो एक स्थान पर विष्णुपुराण, महाभारत के अरण्यपर्व और अर्थशास्त्र का भी उल्लेख किया है, अत: निश्चित ही यह आख्यान इनकी रचना के बाद ही रचा गया होगा। उपलब्ध आगमों में अनुयोगद्वार महाभारत और रामायण का उल्लेख करता है। अनुयोगद्वार की विषयवस्तु के अवलोकन से ऐसा लगता है कि अपने अन्तिम रूप में वह लगभग पाँचवीं शती की रचना है। धूर्ताख्यान में 'भारत' नाम आता है, 'महाभारत' नहीं। अत: इतना निश्चित है कि धूर्ताख्यान के कथानक के आद्यस्रोत की पूर्व सीमा ईसा की चौथी या पाँचवीं शती से आगे नहीं हो सकती। पुन: निशीथभाष्य और निशीथचूर्णि में उल्लेख होने से धूर्ताख्यान के आद्यस्रोत की अपर-अन्तिम सीमा छठी-सातवीं शती के पश्चात् नहीं हो सकती। इन ग्रन्थों का रचनाकाल ईसा की सातवीं शती का उत्तरार्द्ध हो सकता है। अत: धूर्ताख्यान का आद्यस्रोत ईसा की पाँचवीं शती से सातवीं शती के बीच का है।

यद्यपि प्रमाणाभाव में निश्चितरूप से कुछ कहना कठिन है, किन्तु एक कल्पना यह भी की जा सकती है कि हरिभद्र की गुरु-परम्परा जिनभद्र और जिनदास की हो, आगे कहीं भ्रान्तिवश जिनभद्र का जिनभट और जिनदास का जिनदत्त हो गया हो, क्योंकि 'द्द' और 'ट्ट' में के लेखन में और 'त्त' और 'स' के लेखन में हस्तप्रतों में बहुत ही कम अन्तर रहता है। पुन: हरिभद्र जैसे प्रतिभाशाली शिष्य का गुरु भी प्रतिभाशाली होना चाहिए, जबकि हरिभद्र के पूर्व जिनभट्ट और जिनदत्त के होने के अन्यत्र कोई संकेत नहीं मिलते हैं। हो सकता है कि धूर्ताख्यान हरिभद्र की युवावस्था की रचना हो और उसका उपयोग उनके गुरुबन्धु सिद्धसेन क्षमाश्रमण (छठी शती) ने अपने निशीथभाष्य में तथा उनके गुरु जिनदासगणि महत्तर ने निशीथचूर्णि में किया हो। धूर्ताख्यान को देखने से स्पष्ट रूप से यह लगता है कि यह हरिभद्र के युवाकाल की रचना है, क्योंकि उसमें उनकी जो व्यंग्यात्मक शैली है, वह उनके परवर्ती ग्रन्थों में नहीं पायी जाती। हरिभद्र के गुरु जिनभद्र की परम्परा में जिनदास हुए हों, यह मात्र मेरी कल्पना नहीं है। डॉ० हर्मन जैकोबी और अन्य कुछ विद्वानों ने भी हरिभद्र के गुरु का नाम जिनभद्र माना है। यद्यपि मुनि श्री जिनविजयजी ने इसे उनकी भ्रान्ति ही माना है। वास्तविकता जो भी हो, किन्तु यदि हम धूर्ताख्यान को हरिभद्र

की मौलिक रचना मानते हैं तो उन्हें जिनभद्र (लगभग शक सम्वत् ५३०) और सिद्धसेन क्षमाश्रमण (लगभग शक संवत् ५५०) तथा उनके शिष्य जिनदासगणि महत्तर (शक संवत् ५९८ या वि० सं० ७३३) के पूर्ववर्ती या कम से कम समकालिक तो माननां ही होगा।

यदि हम हरिभद्र को सिद्धसेन क्षमाश्रमण एवं जिनदासगणि महत्तर का पूर्ववर्ती मानते हैं तब तो उनका समय विक्रम संवत् ५८५ माना जा सकता है। मुनि जयसुन्दरविजयजी **शास्त्रवार्तासमुच्चय** की **भूमिका** में उक्त तिथि का समर्थन करते हुए लिखते हैं — प्राचीन अनेक ग्रन्थकारों ने श्री हरिभद्रसूरि को ५८५ वि०सं० में होना बताया है। इतना ही नहीं, किन्तु श्री हरिभद्रसूरि ने स्वयं भी अपने समय का उल्लेख संवत्-तिथि-वार-मास और नक्षत्र के साथ लघुक्षेत्रसमास की वृत्ति में किया है, जिस वृत्ति के ताडपत्रीय जैसलमेर की प्रत का परिचय मुनि श्री पुण्यविजय सम्पादित '**जैसलमेर कलेक्शन**' पृष्ठ ६८ में इस प्रकार प्राप्य है : "**क्रमांक १९६, जम्बूद्वीपक्षेत्रसमासवृत्ति, पत्र २६, भाषा : प्राकृत-संस्कृत, कर्ता : हरिभद्र आचार्य, प्रतिलिपि ले० सं० अनुमानत: १४वीं शताब्दी।**"

इस प्रति के अन्त में इस प्रकार का उल्लेख मिलता है -

इति क्षेत्रसमासवृत्तिः समाप्ता। विरचिता श्रीहरिभद्राचार्यै: ॥ छ ॥
लघुक्षेत्रसमासस्य वृत्तिरेषा समासतः।
रचिता बुधबोधार्थं श्रीहरिभद्रसूरिभिः ॥ १ ॥
पञ्चाशितिकवर्षे विक्रमतो व्रजति शुक्लपञ्चम्याम्।
शुक्रस्य शुक्रवारे शस्ये पुष्ये च नक्षत्रे ॥ २ ॥

ठीक इसी प्रकार का उल्लेख अहमदाबाद, संवेगी उपाश्रय के हस्तलिखित भण्डार की सम्भवत: पन्द्रहवीं शताब्दी में लिखी हुई क्षेत्रसमास की कागज की एक प्रति में उपलब्ध होता है।

दूसरी गाथा में स्पष्ट शब्दों में श्री हरिभद्रसूरि ने लघुक्षेत्रसमासवृत्ति का रचनाकाल वि० सं० (५) ८५, पुष्यनक्षत्र शुक्र (ज्येष्ठ) मास, शुक्रवार, शुक्ल पञ्चमी बताया है। यद्यपि यहाँ वि० सं० ८५ का उल्लेख है तथापि जिस वार-तिथि-मास-नक्षत्र का यह उल्लेख है उनसे वि०सं० ५८५ का ही मेल बैठता है। अहमदाबाद वेधशाला के प्राचीन ज्योतिष विभाग के अध्यक्ष श्री हिम्मतराम जानी ने ज्योतिष और गणित के आधार पर जाँच करके यह बताया है कि उपर्युक्त

गाथा में जिन वार-तिथि इत्यादि का उल्लेख है, वह वि० सं० ५८५ के अनुसार बिल्कुल ठीक है, ज्योतिषशास्त्र के गणितानुसार प्रामाणिक है।

इस प्रकार श्री हरिभद्रसूरि जी महाराज ने स्वयं ही अपने समय की अत्यन्त प्रामाणिक सूचना दे रखी है, तब उससे बढकर और क्या प्रमाण हो सकता है जो उनके इस समय की सिद्धि में बाधा डाल सके? शंका हो सकती है कि 'यह गाथा किसी अन्य ने प्रक्षिप्त की होगी' किन्तु वह ठीक नहीं, क्योंकि प्रक्षेप करने वाला केवल संवत् का उल्लेख कर सकता है किन्तु उसके साथ प्रामाणिक वार-तिथि आदि का उल्लेख नहीं कर सकता। हाँ , यदि धर्मकीर्ति आदि का समय इस समय में बाधा उत्पन्न कर रहा हो तो धर्मकीर्ति आदि के समयोल्लेख के आधार पर श्री हरिभद्रसूरि को विक्रम की छठी शताब्दी से खींचकर आठवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में ले जाने की अपेक्षा उचित यह है कि श्री हरिभद्रसूरि के इस अत्यन्त प्रामाणिक समय-उल्लेख के बल से धर्मकीर्ति आदि को ही छठी शताब्दी के पूर्वार्ध या उत्तरार्ध में ले जाया जाय।

किन्तु मुनि श्रीजयसुन्दरविजयजी की उपर्युक्त सूचना के अनुसार यह जम्बूद्वीप- क्षेत्रसमासवृत्ति का रचनाकाल है। पुनः इसमें मात्र ८५ का उल्लेख है ५८५ का नहीं। इत्सिंग आदि का समय तो सुनिश्चित है। पुनः समस्या न केवल धर्मकीर्ति आदि के समय की है, अपितु जैन-परम्परा के सुनिश्चित समयवाले जिनभद्र, सिद्धसेन क्षमाश्रमण एवं जिनदासगणि महत्तर की भी है - इनमें से कोई भी विक्रम संवत् ५८५ से पूर्ववर्ती नहीं है जबकि इनके नामोल्लेख सहित ग्रन्थावतरण हरिभद्र के ग्रन्थों में मिलते हैं। इनमें सबसे पूर्ववर्ती जिनभद्र का सत्ता-समय भी शक संवत् ५३० अर्थात् विक्रम संवत् ६६५ के लगभग है। अत: हरिभद्र के स्वर्गवास का समय विक्रम संवत् ५८५ किसी भी स्थिति में प्रामाणिक सिद्ध नहीं होता।

हरिभद्र को जिनभद्रगणि, सिद्धसेनगणि और जिनदासमहत्तर का समकालिक मानने पर पूर्वोक्त गाथा के वि० सं० ५८५ को शक संवत् मानना होगा और इस आधार पर हरिभद्र का समय ईसा की सातवीं शताब्दी का उत्तरार्ध सिद्ध होता है। हरिभद्र की कृति दशवैकालिकवृत्ति में विशेषावश्यकभाष्य की अनेक गाथाओं का उल्लेख यही स्पष्ट करता है कि हरिभद्र का सत्ता-समय विशेषावश्यकभाष्य के पश्चात् ही होगा। भाष्य का रचनाकाल शक संवत् ५३१ या उसके कुछ पूर्व का है। अत: यदि उपर्युक्त गाथा के ५८५ को शक संवत् मान लिया जाय तो दोनों में संगति बैठ सकती है। पुनः हरिभद्र की कृतियों में नन्दीचूर्णि से भी कुछ पाठ अवतरित हुए हैं। नन्दीचूर्णि के कर्त्ता

जिनदासगणिमहत्तर ने उसका रचनाकाल शक संवत् ५९८ बताया है। अत: हरिभद्र का सत्ता-समय शक संवत् ५९८ तदनुसार ई० सन् ६७६ के बाद ही हो सकता है। यदि हम हरिभद्र के काल सम्बन्धी पूर्वोक्त गाथा के विक्रम संवत् को शक संवत् मानकर उनका काल ईसा की सातवीं शताब्दी का उत्तरार्ध एवं आठवीं शताब्दी का पूर्वार्ध मानें तो नन्दीचूर्णि के अवतरणों की संगति बैठाने में मात्र २०-२५ वर्ष का ही अन्तर रह जाता है। अत: इतना निश्चित है कि हरिभद्र का काल ईस्वी सन् की लगभग आठवीं शताब्दी ही सिद्ध होगा।

इससे हरिभद्र की कृतियों में उल्लिखित कुमारिल, भर्तृहरि, धर्मकीर्ति, वृद्धधर्मोत्तर आदि से उनकी समकालिकता मानने में भी कोई बाधा नहीं आती। हरिभद्र ने जिनभद्र और जिनदास के जो उल्लेख किये हैं और हरिभद्र की कृतियों में इनके जो अवतरण मिलते हैं उनसे भी इस तिथि को मानने पर कोई बाधा नहीं आती। अत: विद्वानों को जिनविजयजी के निर्णय को मान्य करना होगा।

पुन: यदि हम यह मान लेते हैं कि **निशीथचूर्णि** में उल्लिखित प्राकृत धूर्ताख्यान किसी पूर्वाचार्य की कृति थी और उसके आधार पर ही हरिभद्र ने अपने प्राकृत धूर्ताख्यान की रचना की तो ऐसी स्थिति में हरिभद्र के समय को निशीथचूर्णि के रचनाकाल ईस्वी सन् ६७६ से आगे लाया जा सकता है। मुनि श्री जिनविजयजी ने अनेक अन्तर और बाह्य साक्ष्यों के आधार पर अपने ग्रन्थ '**हरिभद्रसूरि का समय निर्णय**' में हरिभद्र के समय को ई० सन् ७००-७७० स्थापित किया है। यदि पूर्वोक्त गाथा के अनुसार हरिभद्र का समय वि० सं० ५८५ मानते हैं तो जिनविजयजी द्वारा निर्धारित समय और गाथोक्त समय में लगभग २०० वर्षों का अन्तर रह जाता है। इसी क्रम में मुनि धनविजयजी ने '**चतुर्थस्तुतिनिर्णयशंकोद्धार**' में '**रत्नसंचयप्रकरण**' की निम्न गाथा का उल्लेख किया है —

पणपण्णबारससए हरिभद्दोसूरि आसि पुव्वकए।

इस गाथा के आधार पर हरिभद्र का समय वीर निर्वाण संवत् १२५५ अर्थात् वि० सं० ७८५ या ईस्वी सन् ७२८ आता है। इस गाथा में उनके स्वर्गवास का उल्लेख नहीं है, अत: इसे उनका सत्ता-समय माना जा सकता है। यद्यपि उक्त गाथा की पुष्टि हेतु हमें अन्य कोई उल्लेख उपलब्ध नहीं होता। यदि हम इसी प्रसंग में वीर निर्वाण संवत् के सम्बन्ध में चली आ रही ६० वर्ष की भूल को संशोधित कर वीर-निर्वाण को वि० पू० ४१० या ई० पू० ४६७ मानते हैं जैसा कि मैंने अपने एक निबन्ध (देखें : सागर जैन-विद्या भारती, भाग - १) में सिद्ध किया है, तो ऐसी स्थिति में हरिभद्र का स्वर्गवास काल १२५५-

४६७ = ७८८ ई० सिद्ध हो जाता है और यह काल जिनविजयजी द्वारा निर्धारित हरिभद्र के सत्ता-समय ईस्वी सन् ७०० से ७७० के अधिक निकट है।

हरिभद्र के उपर्युक्त समय-निर्णय के सम्बन्ध में एक अन्य महत्त्वपूर्ण समस्या खड़ी होती है सिद्धर्षिकृत उपमितिभवप्रपंचकथा के उस उल्लेख से जिसमें सिद्धर्षि ने हरिभद्र को अपना धर्मबोधकर गुरु कहा है। उन्होंने यह कथा वि० सं० ९६२ में ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी, गुरुवार के दिन पूर्ण की थी। सिद्धर्षि के द्वारा लिखे गए इस तिथि के अनुसार यह काल ९०६ ई० सिद्ध होता है तथा उसमें बताए गए वार, नक्षत्र आदि भी ज्योतिष की गणना से सिद्ध होते हैं। सिद्धर्षि उपमितिभवप्रपंचकथा में हरिभद्र के विषय में लिखते हैं कि उन्होंने (हरिभद्र ने) अनागत अर्थात् भविष्य में होने वाले मुझको जानकर ही मेरे लिए चैत्यवंदनसूत्र का आश्रय लेकर 'ललितविस्तरावृत्ति' की रचना की। यद्यपि कुछ जैन कथानकों में सिद्धर्षि और हरिभद्र के पारस्परिक सम्बन्ध को सिद्ध किया गया है और यह बताया गया है कि सिद्धर्षि हरिभद्र के हस्तदीक्षित शिष्य थे, किन्तु सिद्धर्षि का यह कथन कि 'भविष्य में होने वाले मुझको जानकर ....' यही सिद्ध करता है कि आचार्य हरिभद्र उनके परम्परा-गुरु थे, साक्षात् गुरु नहीं।

स्वयं सिद्धर्षि ने भी हरिभद्र को कालव्यवहित अर्थात् पूर्वकाल में होने वाले तथा अपने को अनागत अर्थात् भविष्य में होने वाला कहा है। अत: दोनों के बीच काल का पर्याप्त अन्तर होना चाहिए। यद्यपि यह सत्य है कि सिद्धर्षि को उनके ग्रन्थ ललितविस्तरा के अध्ययन से जिन धर्म में स्थिरता हुई थी, इसलिए उन्होंने हरिभद्र को धर्मबोध प्रदाता गुरु कहा, साक्षात् गुरु नहीं कहा। मुनि जिनविजयजी ने भी हरिभद्र को सिद्धर्षि का साक्षात् गुरु नहीं माना है।

'कुवलयमाला' के कर्ता उद्योतनसूरि ने अपने इस ग्रन्थ में, जो शक संवत् ६९९ अर्थात् ई० सन् ७७७ में निर्मित है, हरिभद्र एवं उनकी कृति 'समराइच्चकहा' तथा उनके भवविरह नाम का उल्लेख किया है। अत: हरिभद्र ई० सन् ७७७ के पूर्व हुए हैं, इसमें कोई विवाद नहीं रह जाता है।

हरिभद्र, सिद्धर्षि और अकलंक के पूर्ववर्ती हैं, इस सम्बन्ध में एक अन्य प्रमाण यह है कि सिद्धर्षि ने न्यायावतार की टीका में अकलंक द्वारा मान्य स्मृति, प्रत्यभिज्ञा और तर्क - इन तीन प्रमाणों की चर्चा की है। अकलंक के पूर्व जैनदर्शन में इन तीन प्रमाणों की चर्चा अनुपस्थित है। हरिभद्र ने कहीं भी इन तीन प्रमाणों की चर्चा नहीं की है। अत: हरिभद्र अकलंक और सिद्धर्षि से

पूर्ववर्ती हैं। अकलंक का समय विद्वानों ने ई० सन् ७२०-७८० स्थापित किया है। अतः हरिभद्र या तो अकलंक के पूर्ववर्ती या वरिष्ठ समकालीन ही सिद्ध होते हैं।

हरिभद्र का व्यक्तित्व

हरिभद्र का व्यक्तित्व अनेक सद्गुणों की पूँजीभूत भास्वर प्रतिभा है। उदारता, सहिष्णुता, समदर्शिता ऐसे सद्गुण हैं जो उनके व्यक्तित्व को महनीयता प्रदान करते हैं। उनका जीवन समभाव की साधना को समर्पित है। यही कारण है कि विद्या के बल पर उन्होंने धर्म और दर्शन के क्षेत्र में नए विवाद खड़े करने के स्थान पर उनके मध्य समन्वय साधने का पुरुषार्थ किया है। उनके लिए **विद्या विवादाय** न होकर पक्ष-व्यामोह से ऊपर उठकर सत्यान्वेषण करने हेतु है। हरिभद्र पक्षाग्रही न होकर सत्याग्रही हैं, अतः उन्होंने मधुसंचयी भ्रमर की तरह विविध धार्मिक और दार्शनिक परम्पराओं से बहुत कुछ लिया है और उसे जैन परम्परा की अनेकान्त दृष्टि से समन्वित भी किया है। यदि उनके व्यक्तित्व की महानता को समझना है तो विविध क्षेत्रों में उनके अवदानों का मूल्यांकन करना होगा और उनके अवदान का वह मूल्यांकन ही उनके व्यक्तित्व का मूल्यांकन होगा।

धर्म और दर्शन के क्षेत्र में हरिभद्र का अवदान

धर्म और दर्शन के क्षेत्र में हरिभद्र का अवदान क्या है? यह समझने के लिये इस चर्चा को हम निम्न बिन्दुओं में विभाजित कर रहे हैं—

(१) दार्शनिक एवं धार्मिक परम्पराओं का निष्पक्ष प्रस्तुतीकरण।

(२) अन्य दर्शनों की समीक्षा में शिष्ट भाषा का प्रयोग तथा अन्य धर्मों एवं दर्शनों के प्रवर्तकों के प्रति बहुमानवृत्ति।

(३) शुष्क दार्शनिक समालोचनाओं के स्थान पर उन अवधारणाओं के सार-तत्त्व और मूल उद्देश्यों को समझने का प्रयत्न।

(४) अन्य दार्शनिक मान्यताओं में निहित सत्यों को एवं इनकी मूल्यवत्ता को स्वीकार करते हुए जैन दृष्टि के साथ उनके समन्वय का प्रयत्न।

(५) अन्य दार्शनिक परम्पराओं के ग्रन्थों का निष्पक्ष अध्ययन करके उन पर व्याख्या और टीका का प्रणयन करना।

(६) उदार और समन्वयवादी दृष्टि रखते हुए पौराणिक अन्धविश्वासों का निर्भीक रूप से खण्डन करना।

(७) दर्शन और धर्म के क्षेत्र में आस्था या श्रद्धा की अपेक्षा तर्क एवं युक्ति पर अधिक बल; किन्तु शर्त यह कि तर्क और युक्ति का प्रयोग अपने मत की पुष्टि के लिए नहीं, अपितु सत्य की खोज के लिए हो।

(८) धर्म साधना को कर्मकाण्ड के स्थान पर चरित्र की निर्मलता के साथ जोड़ने का प्रयत्न।

(९) मुक्ति के सम्बन्ध में एक उदार और व्यापक दृष्टिकोण।

(१०) उपास्य के नाम-भेद को गौण मानकर उसके गुणों पर बल।

अन्य दार्शनिक एवं धार्मिक परम्पराओं का निष्पक्ष प्रस्तुतीकरण

जैन परम्परा में अन्य परम्पराओं के विचारकों के दर्शन एवं धर्मोपदेश के प्रस्तुतीकरण का प्रथम प्रयास हमें ऋषिभाषित (इसिभासियाइं - लगभग ई० पू० ३ शती) में परिलक्षित होता है। इस ग्रन्थ में अन्य धार्मिक और दार्शनिक परम्पराओं के प्रवर्तकों, यथा - नारद, असितदेवल, याज्ञवल्क्य, सारिपुत्र आदि को अर्हत् ऋषि कहकर सम्बोधित किया गया है और उनके विचारों को निष्पक्ष रूप में प्रस्तुत किया गया है। निश्चय ही वैचारिक उदारता एवं अन्य परम्पराओं के प्रति समादर भाव का यह अति प्राचीन काल का अन्यतम और मेरी दृष्टि में एकमात्र उदाहरण है। अन्य परम्पराओं के प्रति ऐसा समादर भाव वैदिक और बौद्ध परम्परा के प्राचीन साहित्य में हमें कहीं भी उपलब्ध नहीं होता। स्वयं जैन परम्परा में भी यह उदार दृष्टि अधिक काल तक जीवित नहीं रह सकी। परिणामस्वरूप यह महान् ग्रन्थ जो कभी अंग साहित्य का एक भाग था, वहाँ से अलगकर परिपार्श्व में डाल दिया गया। यद्यपि सूत्रकृतांग, भगवती आदि आगम- ग्रन्थों में तत्कालीन अन्य परम्पराओं के विवरण उपलब्ध होते हैं, किन्तु उनमें अन्य दर्शनों और परम्पराओं के प्रति वह उदारता और शालीनता परिलक्षित नहीं होती, जो ऋषिभाषित में थी। सूत्रकृतांग अन्य दार्शनिक और धार्मिक मान्यताओं का विवरण तो देता है किन्तु उन्हें मिथ्या, अनार्य या असंगत कहकर उनकी आलोचना भी करता है। भगवती में विशेष रूप में मंखलि-गोशालक के प्रसंग में तो जैन परम्परा सामान्य शिष्टता का भी उल्लंघन कर देती है। ऋषिभाषित में जिस मंखलि-गोशालक को अर्हत् ऋषि के रूप में सम्बोधित किया गया था, भगवती में उसी का अशोभनीय चित्र प्रस्तुत किया गया है। यहाँ यह चर्चा मैं केवल इसलिए कर रहा हूँ कि हम हरिभद्र की उदारदृष्टि का

सम्यक् मूल्यांकन कर सकें और यह जान सकें कि न केवल जैन परम्परा में, अपितु समग्र भारतीय दर्शन में उनका अवदान कितना महान् है।

जैन दार्शनिकों में सर्वप्रथम सिद्धसेन दिवाकर ने अपने ग्रन्थों में अन्य दार्शनिक मान्यताओं का विवरण प्रस्तुत किया है। उन्होंने बत्तीय द्वात्रिंशिकाएँ लिखी हैं, उनमें नवीं में वेदवाद, दसवीं में योगविद्या, बारहवीं में न्यायदर्शन, तेरहवीं में सांख्यदर्शन, चौदहवीं में वैशेषिकदर्शन, पन्द्रहवीं में बौद्धदर्शन और सोलहवीं में नियतिवाद की चर्चा है, किन्तु सिद्धसेन ने यह विवरण समीक्षात्मक दृष्टि से ही प्रस्तुत किया है। वे अनेक प्रसंगों में इन अवधारणाओं के प्रति चुटीले व्यंग्य भी कसते हैं। वस्तुतः दार्शनिकों में अन्य दर्शनों के जानने और उनका विवरण प्रस्तुत करने की जो प्रवृत्ति विकसित हुई थी उसका मूल आधार विरोधी मतों का निराकरण करना ही था। सिद्धसेन भी इसके अपवाद नहीं हैं। साथ ही पं० सुखलालजी संघवी का यह भी कहना है कि सिद्धसेन की कृतियों में अन्य दर्शनों का जो विवरण उपलब्ध है वह भी पाठ-भ्रष्टता और व्याख्या के अभाव के कारण अधिक प्रामाणिक नहीं है।[४] यद्यपि सिद्धसेन दिवाकर, समन्तभद्र, जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण आदि हरिभद्र के पूर्ववर्ती दार्शनिकों ने अनेकान्त दृष्टि के प्रभाव के कारण कहीं-कहीं वैचारिक उदारता का परिचय दिया है, फिर भी ये सभी विचारक इतना तो मानते ही हैं कि अन्य दर्शन ऐकान्तिक दृष्टि का आश्रय लेने के कारण मिथ्या-दर्शन हैं जबकि जैन दर्शन अनेकान्त-दृष्टि अपनाने के कारण सम्यग्दर्शन है। वस्तुतः वैचारिक समन्वयशीलता और धार्मिक उदारता की जिस ऊँचाई का स्पर्श हरिभद्र ने अपनी कृतियों में किया है वैसा उनके पूर्ववर्ती जैन एवं जैनेत्तर दार्शनिकों में हमें परिलक्षित नहीं होता। यद्यपि हरिभद्र के परवर्ती जैन दार्शनिकों में हेमचन्द्र, यशोविजय, आनन्दघन आदि अन्य धर्मों और दर्शनों के प्रति समभाव और उदारता का परिचय देते हैं, किन्तु उनकी यह उदारता उन पर हरिभद्र के प्रभाव को ही सूचित करती है। उदाहरण के रूप में हेमचन्द्र अपने महादेव-स्तोत्र में निम्न श्लोक प्रस्तुत करते हैं —

भव-बीजांकुरजनना रागाद्या क्षयमुपागता यस्य।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो जिनो वा नमस्तस्मै ॥४४॥

वस्तुतः २५०० वर्ष के सुदीर्घ जैन इतिहास में ऐसा कोई भी समन्वयवादी उदारचेता व्यक्तित्व नहीं है, जिसे हरिभद्र के समतुल्य कहा जा सके। यद्यपि हरिभद्र के पूर्ववर्ती और परवर्ती अनेक आचार्यों ने जैन दर्शन की अनेकान्त दृष्टि के प्रभाव के परिणामस्वरूप उदारता का परिचय अवश्य दिया है फिर भी

उनकी सृजनधर्मिता उस स्तर की नहीं है जिस स्तर की हरिभद्र की है। उनकी कृतियों में दो-चार गाथाओं या श्लोकों में उदारता के चाहे संकेत मिल जायें, किन्तु ऐसे कितने हैं जिन्होंने समन्वयात्मक और उदार दृष्टि के आधार पर षड्दर्शनसमुच्चय, शास्त्रवार्तासमुच्चय और योगदृष्टिसमुच्चय जैसी महान् कृतियों का प्रणयन किया हो।

अन्य दार्शनिक और धार्मिक परम्पराओं का अध्ययन मुख्यत: दो दृष्टियों से किया जाता है – एक तो उन परम्पराओं की आलोचना करने की दृष्टि से और दूसरा उनका यथार्थ परिचय पाने और उनमें निहित सत्य को समझने की दृष्टि से। आलोचना एवं समीक्षा की दृष्टि से लिखे गए ग्रन्थों में भी आलोचना के शिष्ट और अशिष्ट ऐसे दो रूप मिलते हैं। साथ ही जब ग्रन्थकर्त्ता का मुख्य उद्देश्य आलोचना करना होता है, तो वह अन्य परम्पराओं के प्रस्तुतीकरण में न्याय नहीं करता है और उनकी अवधारणाओं को भ्रान्तरूप में प्रस्तुत करता है। उदाहरण के रूप में स्याद्वाद और शून्यवाद के आलोचकों ने कभी भी उन्हें सम्यक् रूप से प्रस्तुत करने का प्रयत्न नहीं किया है। यद्यपि हरिभद्र ने भी अपनी कुछ कृतियों में अन्य दर्शनों एवं धर्मों की समीक्षा की है। अपने ग्रन्थ धूर्ताख्यान में वे धर्म और दर्शन के क्षेत्र में पनप रहे अन्धविश्वासों का सचोट खण्डन भी करते हैं, फिर भी इतना निश्चित है कि वे न तो अपने विरोधी के विचारों को भ्रान्त रूप में प्रस्तुत करते हैं और न उनके सम्बन्ध में अशिष्ट भाषा का प्रयोग ही करते हैं।

दर्शन-संग्राहक ग्रन्थों की परम्परा और उसमें हरिभद्र का स्थान

यदि हम भारतीय दर्शन के समग्र इतिहास में सभी प्रमुख दर्शनों के सिद्धान्त को एक ही ग्रन्थ में पूरी प्रामाणिकता के साथ प्रस्तुत करने के क्षेत्र में हुए प्रयत्नों को देखते हैं, तो हमारी दृष्टि में हरिभद्र ही वे प्रथम व्यक्ति हैं, जिन्होंने सभी प्रमुख भारतीय दर्शनों की मान्यताओं को निष्पक्ष रूप से एक ही ग्रन्थ में प्रस्तुत किया है। हरिभद्र के षड्दर्शनसमुच्चय की कोटि का और उससे प्राचीन दर्शन संग्राहक कोई अन्य ग्रन्थ हमें प्राचीन भारतीय साहित्य में उपलब्ध नहीं होता।

हरिभद्र के पूर्व तक जैन, बौद्ध और वैदिक - तीनों ही परम्पराओं के किसी भी आचार्य ने अपने काल के सभी दर्शनों का निष्पक्ष परिचय देने की दृष्टि से किसी भी ग्रन्थ की रचना नहीं की थी। उनके ग्रन्थों में अपने विरोधी मतों का प्रस्तुतीकरण मात्र उनके खण्डन की दृष्टि से ही हुआ है। जैन परम्परा

में भी हरिभद्र के पूर्व सिद्धसेन दिवाकर और समन्तभद्र ने अन्य दर्शनों के विवरण तो प्रस्तुत किये हैं, किन्तु उनकी दृष्टि भी खण्डनपरक ही है। विविध दर्शनों का विवरण प्रस्तुत करने की दृष्टि से मल्लवादी का नयचक्र महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ कहा जा सकता है किन्तु उसका मुख्य उद्देश्य भी प्रत्येक दर्शन की अपूर्णता को सूचित करते हुए अनेकान्तवाद की स्थापना करना है। पं० दलसुखभाई मालवणिया के शब्दों में नयचक्र की कल्पना के पीछे आचार्य का आशय यह है कि कोई भी मत अपने आप में पूर्ण नहीं है। जिस प्रकार उस मत की स्थापना दलीलों से हो सकती है उसी प्रकार उसका उत्थापन भी विरोधी मतों की दलीलों से हो सकता है। स्थापना और उत्थापन का यह चक्र चलता रहता है। अतएव अनेकान्तवाद में ये मत यदि अपना उचित स्थान प्राप्त करें, तभी उचित है अन्यथा नहीं।[५] नयचक्र की मूलदृष्टि भी स्वपक्ष अर्थात् अनेकान्तवाद के मण्डन और परपक्ष के खण्डन की ही है। इस प्रकार जैन परम्परा में भी हरिभद्र के पूर्व तक निष्पक्ष भाव से कोई भी दर्शन-संग्राहक ग्रन्थ नहीं लिखा गया।

जैनेतर परम्पराओं के दर्शन-संग्राहक ग्रन्थों में आचार्य शंकर विरचित माने जाने वाले **सर्वसिद्धान्तसंग्रह** का उल्लेख किया जा सकता है। यद्यपि यह कृति माधवाचार्य के सर्वदर्शनसंग्रह की अपेक्षा प्राचीन है, फिर भी इसके आद्य शंकराचार्य द्वारा विरचित होने में सन्देह है। इस ग्रन्थ में भी पूर्वदर्शन का उत्तरदर्शन के द्वारा निराकरण करते हुए अन्त में अद्वैत वेदान्त की स्थापना की गयी है। अत: किसी सीमा तक इसकी शैली को नयचक्र की शैली के साथ जोड़ा जा सकता है, किन्तु जहाँ नयचक्र, अन्तिम मत का भी प्रथम मत से खण्डन करवाकर किसी भी एक दर्शन को अन्तिम सत्य नहीं मानता है, वहाँ **सर्वसिद्धान्तसंग्रह** वेदान्त को एकमात्र और अन्तिम सत्य स्वीकार करता है। अत: यह एक दर्शनसंग्राहक ग्रन्थ होकर भी निष्पक्ष दृष्टि का प्रतिपादक नहीं माना जा सकता है। हरिभद्र के षड्दर्शनसमुच्चय की जो विशेषता है वह इसमें नहीं है।

जैनेतर परम्पराओं में दर्शन-संग्राहक ग्रन्थों में दूसरा स्थान माधवाचार्य (ई० १३५०?) के **सर्वदर्शनसंग्रह** का आता है। किन्तु **सर्वदर्शनसंग्रह** की मूलभूत दृष्टि भी यही है कि वेदान्त ही एकमात्र सम्यग्दर्शन है। **सर्वसिद्धान्तसंग्रह** और **सर्वदर्शनसंग्रह** दोनों की हरिभद्र के षड्दर्शनसमुच्चय से इस अर्थ में भिन्नता है कि जहाँ हरिभद्र बिना किसी खण्डन-मण्डन के निरपेक्ष भाव से तत्कालीन विविध दर्शनों को प्रस्तुत करते हैं, वहाँ वैदिक परम्परा के इन दोनों ग्रन्थों की मूलभूत शैली खण्डनपरक ही है। अत: इन दोनों ग्रन्थों में अन्य दार्शनिक मतों

के प्रस्तुतीकरण में वह निष्पक्षता और उदारता परिलक्षित नहीं होती, जो हरिभद्र के षड्दर्शनसमुच्चय में है।

इसके पश्चात् वैदिक परम्परा के दर्शन-संग्राहक ग्रन्थों में मधुसूदन सरस्वती के '**प्रस्थान-भेद**' का क्रम आता है। मधुसूदन सरस्वती ने दर्शनों का वर्गीकरण आस्तिक और नास्तिक के रूप में किया है। नास्तिक-अवैदिक दर्शनों में वे छः प्रस्थानों का उल्लेख करते हैं। इसमें बौद्ध दर्शन के चार सम्प्रदाय तथा चार्वाक और जैनों का समावेश हुआ है। आस्तिक-वैदिक दर्शनों में — न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्वमीमांसा और उत्तर मीमांसा का समावेश हुआ है। इन्होंने पाशुपत दर्शन एवं वैष्णव दर्शन का भी उल्लेख किया है। पं० दलसुखभाई मालवणिया के अनुसार प्रस्थान-भेद के लेखक की एक विशेषता अवश्य है जो उसे पूर्व उल्लिखित वैदिक परम्परा के अन्य दर्शन-संग्राहक ग्रन्थों से अलग करती है, वह यह कि इस ग्रन्थ में वैदिक दर्शनों के पारस्परिक विरोध का समाधान यह कह कर किया गया है कि इन प्रस्थानों के प्रस्तोता सभी मुनि भ्रान्त तो नहीं हो सकते, क्योंकि वे सर्वज्ञ थे। चूँकि बाह्य विषयों में लगे हुए मनुष्यों का परम पुरुषार्थ में प्रविष्ट होना कठिन होता है, अतएव नास्तिकों का निराकरण करने के लिए इन मुनियों ने दर्शन प्रस्थानों के भेद किये हैं।[६] इस प्रकार प्रस्थान-भेद में यत्किञ्चित् उदारता का परिचय प्राप्त होता है, किन्तु यह उदारता केवल वैदिक परम्परा के आस्तिक दर्शनों के सन्दर्भ में ही है, नास्तिकों का निराकरण करना तो सर्वदर्शनकौमुदीकार को भी इष्ट ही है। इस प्रकार दर्शन-संग्राहक ग्रन्थों में हरिभद्र की जो निष्पक्ष और उदार दृष्टि है वह हमें अन्य परम्पराओं में रचित दर्शन-संग्राहक ग्रन्थों में नहीं मिलती है। यद्यपि वर्तमान में भारतीय दार्शनिक परम्पराओं का विवरण प्रस्तुत करने वाले अनेक ग्रन्थ लिखे जा रहे हैं किन्तु उनमें भी लेखक कहीं न कहीं अपने इष्ट दर्शन को ही अन्तिम सत्य के रूप में प्रस्तुत करता प्रतीत होता है।

हरिभद्र के पश्चात् जैन परम्परा में लिखे गए दर्शन-संग्राहक ग्रन्थों में अज्ञातकर्तृक **सर्वसिद्धान्तप्रवेशक** का स्थान आता है, किन्तु इतना निश्चित है कि यह ग्रन्थ किसी जैन आचार्य द्वारा प्रणीत है, क्योंकि इसके मंगलाचरण में **सर्वभावप्रणेतारं प्रणिपत्य जिनेश्वरं** ऐसा उल्लेख है। पं० सुखलाल संघवी के अनुसार प्रस्तुत ग्रन्थ की प्रतिपादन शैली हरिभद्र के **षड्दर्शनसमुच्चय** का ही अनुसरण करती है।[७] अन्तर मात्र यह है कि जहाँ हरिभद्र का ग्रन्थ पद्य में है वहाँ **सर्वसिद्धान्तप्रवेशक** गद्य में है। साथ ही यह ग्रन्थ हरिभद्र के **षड्दर्शनसमुच्चय** की अपेक्षा कुछ विस्तृत भी है।

जैन परम्परा के दर्शन-संग्राहक ग्रन्थों में दूसरा स्थान जीवदेवसूरि के शिष्य आचार्य जिनदत्तसूरि (विक्रम १२६५) के **विवेकविलास** का आता है। इस ग्रन्थ के अष्टम उल्लास में षड्दर्शनविचार नामक प्रकरण है, जिसमें जैन,मीमांसक, बौद्ध, सांख्य, शैव और नास्तिक - इन छः दर्शनों का संक्षेप में वर्णन किया गया है। पं० दलसुखभाई मालवणिया के अनुसार इस ग्रन्थ की एक विशेषता तो यह है कि इसमें न्याय-वैशेषिकों का समावेश शैवदर्शन में किया गया है। मेरी दृष्टि में इसका कारण लेखक के द्वारा हरिभद्र के **षड्दर्शनसमुच्चय** का अनुसरण करना ही है, क्योंकि उसमें भी न्यायदर्शन के देवता के रूप में शिव का ही उल्लेख किया गया है —

अक्षपादमते देवः सृष्टिसंहारकृच्छिवः ॥ १३ ॥

यह ग्रन्थ भी हरिभद्र के **षड्दर्शनसमुच्चय** के समान केवल परिचयात्मक और निष्पक्ष विवरण प्रस्तुत करता है और आकार में मात्र ६६ श्लोक प्रमाण हैं।

जैन परम्परा में दर्शन-संग्राहक ग्रन्थों में तीसरा क्रम राजशेखर (विक्रम १४०५) के षड्दर्शनसमुच्चय का आता है। इस ग्रन्थ में जैन सांख्य, जैमिनीय, योग, वैशेषिक और सौगत (बौद्ध) इन छः दर्शनों का उल्लेख किया गया है। हरिभद्र के समान ही इस ग्रन्थ में भी इन सभी को आस्तिक कहा गया है और अन्त में नास्तिक के रूप में चार्वाक दर्शन का परिचय दिया गया है। हरिभद्र के षड्दर्शनसमुच्चय और राजशेखर के षड्दर्शनसमुच्चय में एक मुख्य अन्तर इस बात को लेकर है कि दर्शनों के प्रस्तुतीकरण में जहाँ हरिभद्र जैनदर्शन को चौथा स्थान देते हैं वहाँ राजशेखर जैन दर्शन को प्रथम स्थान देते हैं। पं० सुखलाल संघवी के अनुसार सम्भवतः इसका कारण यह हो सकता है कि राजशेखर अपने समकालीन दार्शनिकों के अभिनिवेशयुक्त प्रभाव से अपने को दूर नहीं रख सके।[८] पं० दलसुखभाई मालवणिया की सूचना के अनुसार राजशेखर के काल का ही एक अन्य दर्शन-संग्राहक ग्रन्थ आचार्य मेरुतुंगकृत 'षड्दर्शननिर्णय' है।[९] इस ग्रन्थ में मेरुतुंग ने जैन, बौद्ध, मीमांसा, सांख्य, न्याय और वैशेषिक – इन छः दर्शनों की मीमांसा की है किन्तु इस कृति में हरिभद्र जैसी उदारता नहीं है। यह मुख्यतया जैनमत की स्थापना और अन्य मतों के खण्डन के लिये लिखा गया है। इसकी एकमात्र विशेषता यह है कि इसमें महाभारत, स्मृति, पुराण आदि के आधार पर जैनमत का समर्थन किया गया है।

पं० दलसुखभाई मालवणिया ने षड्दर्शनसमुच्चय की प्रस्तावना में इस बात का भी उल्लेख किया है कि सोमतिलकसूरिकृत 'षड्दर्शनसमुच्चय' की वृत्ति

के अन्त में अज्ञातकर्तृक एक कृति मुद्रित है।[१०] इसमें भी जैन, न्याय, बौद्ध, वैशेषिक, जैमिनीय, सांख्य और चार्वाक – ऐसे सात दर्शनों का संक्षेप में परिचय दिया गया है, किन्तु अन्त में अन्य दर्शनों को दुर्नय की कोटि में रखकर जैनदर्शन को उच्च श्रेणी में रखा गया है। इस प्रकार इसका लेखक भी अपने को साम्प्रदायिक अभिनिवेश से दूर नहीं रख सका।

इस प्रकार हम देखते हैं कि दर्शन-संग्राहक ग्रन्थों की रचना में भारतीय इतिहास में हरिभद्र ही एकमात्र ऐसे व्यक्ति हैं, जिन्होंने निष्पक्ष भाव से और पूरी प्रामाणिकता के साथ अपने ग्रन्थ में अन्य दर्शनों का विवरण दिया है। इस क्षेत्र में वे अभी तक अद्वितीय हैं।

समीक्षा में शिष्टभाषा का प्रयोग और अन्य धर्मप्रवर्तकों के प्रति बहुमान

दर्शन के क्षेत्र में अपनी दार्शनिक अवधारणाओं की पुष्टि तथा विरोधी अवधारणाओं के खण्डन के प्रयत्न अत्यन्त प्राचीनकाल से होते रहे हैं। प्रत्येक दर्शन अपने मन्तव्यों की पुष्टि के लिये अन्य दार्शनिक मतों की समालोचना करता है। स्वपक्ष का मण्डन तथा परपक्ष का खण्डन – यह दार्शनिकों की सामान्य प्रवृत्ति रही है। हरिभद्र भी इसके अपवाद नहीं हैं। फिर भी उनकी यह विशेषता है कि अन्य दार्शनिक मतों की समीक्षा में वे सदैव ही शिष्ट भाषा का प्रयोग करते हैं तथा विरोधी दर्शनों के प्रवर्तकों के लिए भी बहुमान प्रदर्शित करते हैं। दार्शनिक समीक्षाओं के क्षेत्र में एक युग ऐसा रहा है जिसमें अन्य दार्शनिक परम्पराओं को न केवल भ्रष्ट रूप में प्रस्तुत किया जाता था, अपितु उनके प्रवर्तकों का उपहास भी किया जाता था। जैन और जैनेतर दोनों ही परम्पराएँ इस प्रवृत्ति से अपने को मुक्त नहीं रख सकीं। जैन परम्परा के सिद्धसेन दिवाकर, समन्तभद्र आदि दिग्गज दार्शनिक भी जब अन्य दार्शनिक परम्पराओं की समीक्षा करते हैं तो न केवन उन परम्पराओं की मान्यताओं के प्रति, अपितु उनके प्रवर्तकों के प्रति भी चुटीले व्यंग्य कस देते हैं। हरिभद्र स्वयं भी अपने लेखन के प्रारम्भिक काल में इस प्रवृत्ति के अपवाद नहीं रहे हैं। जैन आगमों की टीका में और धूर्ताख्यान जैसे ग्रन्थों की रचना में वे स्वयं भी इस प्रकार के चुटीले व्यंग्य कसते हैं, किन्तु हम देखते हैं कि विद्वत्ता की प्रौढता के साथ हरिभद्र में धीरे-धीरे यह प्रवृत्ति लुप्त हो जाती है और अपने परवर्ती ग्रन्थों में वे अन्य परम्पराओं और उनके प्रवर्तकों के प्रति अत्यन्त शिष्ट भाषा का प्रयोग करते हैं तथा उनके प्रति बहुमान सूचित करते हैं। इसके कुछ उदाहरण हमें उनके ग्रन्थ 'शास्त्रवार्तासमुच्चय' में देखने को मिल जाते हैं। अपने ग्रन्थ

'शास्त्रवार्तासमुच्चय' के प्रारम्भ में ही ग्रन्थ-रचना का उद्देश्य स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं –

यं श्रुत्वा सर्वशास्त्रेषु प्रायस्तत्त्वविनिश्चयः ।
जायते द्वेषशमनः स्वर्गसिद्धिसुखावहः ॥

अर्थात् इसका अध्ययन करने से अन्य दर्शनों के प्रति द्वेष-बुद्धि समाप्त होकर तत्त्व का बोध हो जाता है। इस ग्रन्थ में वे कपिल को दिव्यपुरुष एवं महामुनि के रूप में सूचित करते हैं – कपिलो दिव्यो हि स महामुनिः (शास्त्रवार्तासमुच्चय, २३७)। इसी प्रकार वे बुद्ध को भी अर्हत्, महामुनि, सुवैद्य आदि विशेषणों से अभिहित करते हैं – यतो बुद्धो महामुनिः सुवैद्यवत् (वही, ४६५-४६६)। यहाँ हम देखते हैं कि जहाँ एक ओर अन्य दार्शनिक अपने विरोधी दार्शनिकों का खुलकर परिहास करते हैं – न्यायदर्शन के प्रणेता महर्षि गौतम को गाय का बछड़ा या बैल और महर्षि कणाद को उल्लू कहते हैं, वहीं दूसरी ओर हरिभद्र अपने विरोधयों के लिए महामुनि और अर्हत् जैसे सम्मानसूचक विशेषणों का प्रयोग करते हैं। 'शास्त्रवार्तासमुच्चय' में यद्यपि अन्य दार्शनिक अवधारणाओं की स्पष्ट समालोचना है, किन्तु सम्पूर्ण ग्रन्थ में ऐसा कोई भी उदाहरण नहीं मिलता जहाँ हरिभद्र ने शिष्टता की मर्यादा का उल्लंघन किया हो। इस प्रकार हरिभद्र ने अन्य परम्पराओं के प्रति जिस शिष्टता और आदरभाव का परिचय दिया है, वह हमें जैन और जैनेतर किसी भी परम्परा के अन्य ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं होती।

हरिभद्र भूमिका ने अन्य दर्शनों के अध्ययन के पश्चात् उनमें निहित सारतत्त्व या सत्य को समझने का जो प्रयास किया है, वह भी अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण है और उनके उदारचेता व्यक्तित्व को उजागर करता है। यद्यपि हरिभद्र चार्वाक दर्शन की समीक्षा करते हुए उसके भूत स्वभाववाद का खण्डन करते हैं और उसके स्थान पर कर्मवाद की स्थापना करते हैं। किन्तु सिद्धान्त में कर्म के जो दो रूप – द्रव्यकर्म और भावकर्म माने गए हैं उसमें एक ओर भावकर्म के स्थान को स्वीकार नहीं करने के कारण जहाँ वे चार्वाक-दर्शन की समीक्षा करते हैं वहीं दूसरी ओर वे द्रव्यकर्म की अवधारणा को स्वीकार करते हुए चार्वाक के भूत स्वभाववाद की सार्थकता को भी स्वीकार करते हैं और कहते हैं कि भौतिक तत्त्वों का प्रभाव भी चैतन्य पर पड़ता है।[११] पं० सुखलालजी संघवी लिखते हैं कि हरिभद्र ने दोनों पक्षों अर्थात् बौद्ध एवं मीमांसकों के अनुसार कर्मवाद के प्रसंग में चित्तवासना की प्रमुखता को तथा चार्वाकों के अनुसार

भौतिक तत्त्व की प्रमुखता को एक-एक पक्ष के रूप में परस्पर पूरक एवं सत्य मानकर कहा कि जैन कर्मवाद में चार्वाक और मीमांसक तथा बौद्धों के मन्तव्यों का सुमेल हुआ है।[१२]

इसी प्रकार 'शास्त्रवार्तासमुच्चय' में हरिभद्र यद्यपि न्याय-वैशेषिक दर्शनों द्वारा मान्य ईश्वरवाद एवं जगत्-कर्तृत्ववाद की अवधारणाओं की समीक्षा करते हैं, किन्तु जहाँ चार्वाकों, बौद्धों और अन्य जैन आचार्यों ने इन अवधारणाओं का खण्डन किया है, वहाँ हरिभद्र इनकी भी सार्थकता को स्वीकार करते हैं। हरिभद्र ने ईश्वरवाद की अवधारणा में भी कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्यों को देखने का प्रयास किया है। प्रथम तो यह कि मनुष्य में कष्ट के समय स्वाभाविक रूप से किसी ऐसी शक्ति के प्रति श्रद्धा और प्रपत्ति की भावना होती है जिसके द्वारा वह अपने में आत्मविश्वास जागृत कर सके। पं० सुखलालजी संघवी लिखते हैं कि मानव मन की प्रपत्ति या शरणागति की यह भावना मूल में असत्य तो नहीं कही जा सकती। उनकी इस अपेक्षा को ठेस न पहुँचे तथा तर्क व बुद्धिवाद के साथ ईश्वरवादी अवधारणा का समन्वय भी हो, इसलिए उन्होंने (हरिभद्र ने) ईश्वर-कर्तृत्ववाद की अवधारणा को अपने ढंग से स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है।[१३] हरिभद्र कहते हैं कि जो व्यक्ति आध्यात्मिक निर्मलता के फलस्वरूप अपने विकास की उच्चतम भूमिका को प्राप्त हुआ हो वह असाधारण आत्मा है और वही ईश्वर या सिद्ध पुरुष है। उस आदर्श स्वरूप को प्राप्त करने के कारण कर्त्ता तथा भक्ति का विषय होने के कारण उपास्य है।[१४] इसके साथ ही हरिभद्र यह भी मानते हैं कि प्रत्येक जीव तत्त्वत: अपने शुद्ध रूप में परमात्मा और अपने भविष्य का निर्माता है और इस दृष्टि से यदि विचार करें तो वह 'ईश्वर' भी है और 'कर्ता' भी है। इस प्रकार ईश्वर-कर्तृत्ववाद भी समीचीन ही सिद्ध होता है।[१५] हरिभद्र सांख्यों के प्रकृतिवाद की भी समीक्षा करते हैं, किन्तु वे प्रकृति को जैन परम्परा में स्वीकृत कर्मप्रकृति के रूप में देखते हैं। वे लिखते हैं कि "सत्य न्याय की दृष्टि से प्रकृति कर्म-प्रकृति ही है और इस रूप में प्रकृतिवाद भी उचित है क्योंकि उसके वक्ता कपिल दिव्य-पुरुष और महामुनि हैं।[१६]

'शास्त्रवार्तासमुच्चय' में हरिभद्र ने बौद्धों के क्षणिकवाद, विज्ञानवाद और शून्यवाद की भी समीक्षा की है, किन्तु वे इन धारणाओं में निहित सत्य को भी देखने का प्रयत्न करते हैं और कहते हैं कि महामुनि और अर्हत् बुद्ध उद्देश्यहीन होकर किसी सिद्धान्त का उपदेश नहीं करते। उन्होंने क्षणिकवाद का उपदेश पदार्थ के प्रति हमारी आसक्ति के निवारण के लिये ही दिया है, क्योंकि जब वस्तु का अनित्य और विनाशशील स्वरूप समझ में आ जाता है तो उसके

प्रति आसक्ति गहरी नहीं होती। इसी प्रकार विज्ञानवाद का उपदेश भी बाह्य पदार्थों के प्रति तृष्णा को समाप्त करने के लिए ही है। यदि सब कुछ चित्त के विकल्प हैं और बाह्य रूप सत्य नहीं है तो उनके प्रति तृष्णा उत्पन्न ही नहीं होगी। इसी प्रकार कुछ साधकों की मनोभूमिका को ध्यान में रखकर संसार की निस्सारता का बोध कराने के लिए शून्यवाद का उपदेश दिया है।[१७] इस प्रकार हरिभद्र की दृष्टि में बौद्ध दर्शन के क्षणिकवाद, विज्ञानवाद और शून्यवाद – इन तीनों सिद्धान्तों का मूल उद्देश्य यही है कि व्यक्ति की जगत् के प्रति उत्पन्न होने वाली तृष्णा का प्रहाण हो।

अद्वैतवाद की समीक्षा करते हुए हरिभद्र स्पष्ट रूप से यह बताते हैं कि सामान्य की दृष्टि से तो अद्वैत की अवधारणा भी सत्य है। इसके साथ ही साथ वे यह भी बताते हैं कि विषमता के निवारण के लिए और समभाव की स्थापना के लिए अद्वैत की भूमिका भी आवश्यक है।[१८] अद्वैत परायेपन की भावना का निषेध करता है, इस प्रकार द्वेष का उपशमन करता है। अतः वह भी असत्य नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार अद्वैत वेदान्त के ज्ञानमार्ग को भी वे समीचीन ही स्वीकार करते हैं।[१९]

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि अन्य दार्शनिक-अवधारणाओं की समीक्षा का उनका प्रयत्न समीक्षा के लिये न होकर उन दार्शनिक परम्पराओं की सत्यता के मूल्यांकन के लिये ही है। स्वयं उन्होंने 'शास्त्रवार्तासमुच्चय' के प्राक्कथन में यह स्पष्ट किया है कि प्रस्तुत ग्रन्थ का उद्देश्य अन्य परम्पराओं के प्रति द्वेष का उपशमन करना और सत्य का बोध करना है। उपर्युक्त विवरण से यह भी स्पष्ट है कि उन्होंने ईमानदारी से प्रत्येक दार्शनिक मान्यता के मूलभूत उद्देश्यों को समझाने का प्रयास किया है और इस प्रकार वे आलोचक के स्थान पर सत्य के गवेषक ही अधिक प्रतीत होते हैं।[२०]

अन्य दर्शनों का गम्भीर अध्ययन एवं उनकी निष्पक्ष व्याख्या

भारतीय दार्शनिकों में अपने से इतर परम्पराओं के गम्भीर अध्ययन की प्रवृत्ति प्रारम्भ में हमें दृष्टिगत नहीं होती है। बादरायण, जैमिनि आदि दिग्गज विद्वान् भी जब दर्शनों की समालोचना करते हैं तो ऐसा लगता है कि वे दूसरे दर्शनों को अपने सतही ज्ञान के आधार पर भ्रान्तरूप में प्रस्तुत करके उनका खण्डन कर देते हैं। यह सत्य है कि अनैकान्तिक एवं समन्वयात्मक दृष्टि के कारण अन्य दर्शनों के गम्भीर अध्ययन की परम्परा का विकास सर्वप्रथम जैन दार्शनिकों ने ही किया है। ऐसा लगता है कि हरिभद्र ने समालोच्य प्रत्येक दर्शन

का ईमानदारीपूर्वक गम्भीर अध्ययन किया था, क्योंकि इसके बिना वे न तो उन दर्शनों में निहित सत्यों को समझा सकते थे, न उनकी स्वस्थ समीक्षा ही कर सकते थे और न उनका जैन मन्तव्यों के साथ समन्वय कर सकते थे। हरिभद्र अन्य दर्शनों के अध्ययन तक ही सीमित नहीं रहे, अपितु उन्होंने उनके कुछ महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों पर तटस्थ भाव से टीकाएँ भी लिखीं। दिङ्नाग के 'न्यायप्रवेश' पर उनकी टीका महत्त्वपूर्ण मानी जाती है। पतञ्जलि के 'योगसूत्र' का उनका अध्ययन भी काफी गम्भीर प्रतीत होता है, क्योंकि उन्होंने उसी के आधार पर एवं नवीन दृष्टिकोण से योगदृष्टिसमुच्चय, योगबिन्दु, योगविंशिका आदि ग्रन्थों की रचना की थी। इस प्रकार हरिभद्र जैन और जैनेतर परम्पराओं के एक ईमानदार अध्येता एवं व्याख्याकार भी हैं। जिस प्रकार प्रशस्तपाद ने दर्शन ग्रन्थों की टीका लिखते समय तद्-तद् दर्शनों के मन्तव्यों का अनुसरण करते हुए तटस्थ भाव रखा, उसी प्रकार हरिभद्र ने भी इतर परम्पराओं का विवेचन करते समय तटस्थ भाव रखा है।

अन्धविश्वासों का निर्भीक रूप से खण्डन

यद्यपि हरिभद्र अन्य धार्मिक एवं दार्शनिक परम्पराओं के प्रति एक उदार और सहिष्णु दृष्टिकोण को लेकर चलते हैं, किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि वे उनके अतर्कसंगत अन्धविश्वासों को प्रश्रय देते हैं। एक ओर वे अन्य परम्पराओं के प्रति आदरभाव रखते हुए उनमें निहित सत्यों को स्वीकार करते हैं तो दूसरी ओर उनमें पल रहे अन्धविश्वासों का निर्भीक रूप से खण्डन भी करते हैं। इस दृष्टि से उनकी दो रचनाएँ बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं – (१) धूर्ताख्यान और (२) द्विजवदनचपेटिका। 'धूर्ताख्यान' में उन्होंने पौराणिक परम्परा में पल रहे अन्धविश्वासों का सचोट निरसन किया है। हरिभद्र ने धूर्ताख्यान में वैदिक परम्परा में विकसित इस धारणा का खण्डन किया है कि ब्रह्मा के मुख से ब्राह्मण, बाहु से क्षत्रिय, पेट से वैश्य तथा पैर से शूद्र उत्पन्न हुए हैं। इसी प्रकार कुछ पौराणिक मान्यताओं यथा – शंकर के द्वारा अपनी जटाओं में गंगा को समा लेना, वायु के द्वारा हनुमान का जन्म, सूर्य के द्वारा कुन्ती से कर्ण का जन्म, हनुमान के द्वारा पूरे पर्वत को उठा लाना, वानरों के द्वारा सेतु बाँधना, श्रीकृष्ण के द्वारा गोवर्धन पर्वत धारण करना, गणेश का पार्वती के शरीर के मैल से उत्पन्न होना, पार्वती का हिमालय की पुत्री होना आदि अनेक पौराणिक मान्यताओं का व्यंग्यात्मक शैली में निरसन किया है। हरिभद्र धूर्ताख्यान की कथा के माध्यम से कुछ काल्पनिक बातें प्रस्तुत करते हैं और फिर कहते हैं कि यदि पुराणों में कही गयी उपर्युक्त बातें सत्य हैं तो ये सत्य क्यों नहीं हो सकतीं ?

इस प्रकार धूर्ताख्यान में वे व्यंग्यात्मक किन्तु शिष्ट शैली में पौराणिक मिथ्या-विश्वासों की समीक्षा करते हैं। इसी प्रकार द्विजवदनचपेटिका में भी उन्होंने ब्राह्मण-परम्परा में पल रही मिथ्या-धारणाओं एवं वर्ण-व्यवस्था का सचोट खण्डन किया है। हरिभद्र सत्य के समर्थक हैं, किन्तु अन्धविश्वासों एवं मिथ्या मान्यताओं के वे कठोर समीक्षक भी हैं।

तर्क या बुद्धिवाद का समर्थन

हरिभद्र में यद्यपि एक धार्मिक की श्रद्धा है, किन्तु वे श्रद्धा को तर्कविरोधी नहीं मानते हैं। उनके लिए तर्करहित श्रद्धा उपादेय नहीं है। वे स्पष्ट रूप से कहते हैं कि न तो महावीर के प्रति मेरा कोई राग है और न कपिल आदि के प्रति कोई द्वेष ही है –

पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद्वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः ॥

— लोकतत्त्वनिर्णय, ३८

उनके कहने का तात्पर्य यही है कि सत्य के गवेषक और साधना के पथिक को पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर विभिन्न मान्यताओं की समीक्षा करनी चाहिए और उनमें जो भी युक्तिसंगत लगे उसे स्वीकार करना चाहिए। यद्यपि इसके साथ ही वे बुद्धिवाद से पनपनेवाले दोषों के प्रति भी सचेष्ट हैं। वे स्पष्ट रूप से यह कहते हैं कि युक्ति और तर्क का उपयोग केवल अपनी मान्यताओं की पुष्टि के लिए ही नहीं किया जाना चाहिये, अपितु सत्य की खोज के लिए किया जाना चाहिए –

आग्रही बत निनीषति युक्तिं तत्र यत्र तस्य मतिर्निविष्टा।
निष्पक्षपातस्य तु युक्तिर्यत्र तत्र तस्य मतिरेति निवेशम् ॥

आग्रही व्यक्ति अपनी युक्ति (तर्क) का प्रयोग भी वहीं करता है जिसे वह सिद्ध अथवा खण्डित करना चाहता है, जबकि अनाग्रही या निष्पक्ष व्यक्ति जो उसे युक्तिसंगत लगता है, उसे स्वीकार करता है। इस प्रकार हरिभद्र न केवल युक्ति या तर्क के समर्थक हैं, किन्तु वे यह भी स्पष्ट करते हैं कि तर्क या युक्ति का प्रयोग अपनी मान्यताओं की पुष्टि या अपने विरोधी मान्यताओं के खण्डन के लिये न करके सत्य की गवेषणा के लिये करना चाहिए और जहाँ भी सत्य परिलक्षित हो उसे स्वीकार करना चाहिए। इस प्रकार वे शुष्क तार्किक न होकर सत्यनिष्ठ तार्किक हैं।

कर्मकाण्ड के स्थान पर सदाचार पर बल

हरिभद्र की एक विशेषता यह है कि उन्होंने धर्म साधना को कर्मकाण्ड के स्थान पर आध्यात्मिक पवित्रता और चारित्रिक निर्मलता के साथ जोड़ने का प्रयास किया है। यद्यपि जैन परम्परा में साधना के अंगों के रूप में दर्शन (श्रद्धा), ज्ञान और चारित्र (शील) को स्वीकार किया है। हरिभद्र भी धर्म-साधना के क्षेत्र में इन तीनों का स्थान स्वीकार करते हैं, किन्तु वे यह मानते हैं कि न तो श्रद्धा को अन्धश्रद्धा बनना चाहिए , न ज्ञान को कुतर्क आश्रित होना चाहिए और न आचार को केवल बाह्यकर्मकाण्डों तक सीमित रखना चाहिए। वे कहते हैं कि 'जिन' पर मेरी श्रद्धा का कारण राग भाव नहीं है, अपितु उनके उपदेश की युक्तिसंगतता है। इस प्रकार वे श्रद्धा के साथ बुद्धि को जोड़ते हैं, किन्तु निरा तर्क भी उन्हें इष्ट नहीं है। वे कहते हैं कि तर्क का वाग्जाल वस्तुतः एक विकृति है जो हमारी श्रद्धा एवं मानसिक शान्ति को भंग करने वाला है। वह ज्ञान का अभिमान उत्पन्न करने के कारण भाव-शत्रु है। इसलिए मुक्ति के इच्छुक को तर्क के वाग्जाल से अपने को मुक्त रखना चाहिए।[२१] वस्तुतः वे सम्यग्ज्ञान और तर्क में एक अन्तर स्थापित करते हैं। तर्क केवल विकल्पों का सृजन करता है, अतः उनकी दृष्टि में निरी तार्किकता आध्यात्मिक विकास में बाधक ही है। 'शास्त्रवार्तासमुच्चय' में उन्होंने धर्म के दो विभाग किये हैं – एक संज्ञान-योग और दूसरा पुण्य-लक्षण।[२२] ज्ञानयोग वस्तुतः शाश्वत सत्यों की अपरोक्षानुभूति है और इस प्रकार वह तार्किक ज्ञान से भिन्न है। हरिभद्र अन्धश्रद्धा से मुक्त होने के लिए तर्क एवं युक्ति को आवश्यक मानते हैं, किन्तु उनकी दृष्टि में तर्क या युक्ति को सत्य का गवेषक होना चाहिए, न कि खण्डन-मण्डनात्मक। खण्डन-मण्डनात्मक तर्क या युक्ति साधना के क्षेत्र में उपयोगी नहीं है, इस तथ्य की विस्तृत चर्चा उन्होंने अपने ग्रन्थ योगदृष्टिसमुच्चय में की है।[२३] इसी प्रकार धार्मिक आचार को भी वे शुष्क कर्मकाण्ड से पृथक् रखना चाहते हैं। यद्यपि हरिभद्र ने कर्मकाण्डपरक ग्रन्थ लिखे हैं, किन्तु पं० सुखलाल संघवी ने प्रतिष्ठाकल्प आदि को हरिभद्र द्वारा रचित मानने में सन्देह व्यक्त किया है। हरिभद्र के समस्त उपदेशात्मक साहित्य, श्रावक एवं मुनि-आचार से सम्बन्धित साहित्य को देखने से ऐसा लगता है कि वे धार्मिक जीवन के लिए सदाचार पर ही अधिक बल देते हैं। उन्होंने अपने ग्रन्थों में आचार सम्बन्धी जिन बातों का निर्देश किया है वे भी मुख्यतया व्यक्ति की चारित्रिक निर्मलता और कषायों के उपशमन के निमित्त ही हैं। जीवन में कषायें उपशान्त हों, समभाव सधे यही उनकी दृष्टि में साधना का मुख्य उद्देश्य है। धर्म के नाम पर

पनपने वाले थोथे कर्मकाण्ड एवं छद्म जीवन की उन्होंने खुलकर निन्दा की है और मुनिवेश में ऐहिकता का पोषण करने वालों को आड़े हाथों लिया है, उनकी दृष्टि में धर्म साधना का अर्थ है –

अध्यात्मं भावना ध्यानं समता वृत्तिसंक्षय: ।
मोक्षेण योजनाद्योग एष श्रेष्ठो यथोत्तरम् ॥

- योगबिन्दु, ३१

साधनागत विविधता में एकता का दर्शन

धर्म साधना के क्षेत्र में उपलब्ध विविधताओं का भी उन्होंने सम्यक् समाधान खोजा है। जिस प्रकार 'गीता' में विविध देवों की उपासना को युक्तिसंगत सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है, उसी प्रकार हरिभद्र ने भी साधनागत विविधताओं के बीच एक समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया है। वे लिखते हैं कि जिस प्रकार राजा के विभिन्न सेवक अपने आचार और व्यवहार में अलग-अलग होकर भी राजा के सेवक हैं – उसी प्रकार सर्वज्ञों द्वारा प्रतिपादित आचार-पद्धतियाँ बाह्यत: भिन्न-भिन्न होकर भी तत्त्वत: एक ही हैं। सर्वज्ञों की देशना में नाम आदि का भेद होता है, तत्त्वत: भेद नहीं होता है।[२४]

हरिभद्र की दृष्टि में आचारगत और साधनागत जो भिन्नता है वह मुख्य रूप से दो आधारों पर है। एक साधकों की रुचिगत विभिन्नता के आधार पर और दूसरी नामों की भिन्नता के आधार पर। वे स्पष्ट रूप से कहते हैं कि ऋषियों के उपदेश में जो भिन्नता है वह उपासकों की योग्यता के आधार पर है। जिस प्रकार वैद्य अलग-अलग व्यक्तियों को उनकी प्रकृति की भिन्नता और रोग की भिन्नता के आधार पर अलग-अलग औषधि प्रदान करता है, उसी प्रकार महात्माजन भी संसाररूपी व्याधि हरण करने हेतु साधकों की प्रकृति के अनुरूप साधना की भिन्न-भिन्न विधियाँ बताते हैं।[२५] वे पुन: कहते हैं कि ऋषियों के उपदेश की भिन्नता, उपासकों की प्रकृतिगत भिन्नता अथवा देशकालगत भिन्नता के आधार पर होकर तत्त्वत: एक ही होती है।[२६] वस्तुत: विषय-वासनाओं से आक्रान्त लोगों के द्वारा ऋषियों की साधनागत विविधता के आधार पर स्वयं धर्म-साधना की उपादेयता पर कोई प्रश्नचिह्न लगाना अनुचित ही है। वस्तुत: हरिभद्र की मान्यता यह है कि धर्म-साधना के क्षेत्र में बाह्य आचारगत भिन्नता या उपास्य की नामगत भिन्नता बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं है। महत्त्वपूर्ण यह है कि व्यक्ति अपने जीवन में वासनाओं का कितना शमन कर सका है, उसकी कषायें कितनी शान्त हुई हैं और उसके जीवन में समभाव और अनासक्ति कितनी सधी है।

मोक्ष के सम्बन्ध में उदार दृष्टिकोण

हरिभद्र अन्य धर्माचार्यों के समान यह अभिनिवेश नहीं रखते हैं कि मुक्ति केवल हमारी साधना-पद्धति या हमारे धर्म से ही होगी। उनकी दृष्टि में मुक्ति केवल हमारे धर्म में है – ऐसी अवधारणा ही भ्रान्त है। वे स्पष्ट रूप से कहते हैं कि –

नासाम्बरत्वे न सिताम्बरत्वे, न तर्कवादे न च तत्त्ववादे।
न पक्षसेवाश्रये न मुक्तिः, कषाय मुक्ति किल मुक्तिरेव॥

अर्थात् मुक्ति न तो सफेद वस्त्र पहनने से होती है, न दिगम्बर रहने से। तार्किक वाद-विवाद और तत्त्वचर्चा से भी मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती। किसी एक सिद्धान्त विशेष में आस्था रखने या किसी व्यक्ति विशेष की सेवा करने से भी मुक्ति असम्भव है। मुक्ति तो वस्तुतः कषायों अर्थात् क्रोध, मान, माया और लोभ से मुक्त होने में है। वे स्पष्ट रूप से इस बात का प्रतिपादन करते हैं कि मुक्ति का आधार कोई धर्म, सम्प्रदाय अथवा विशेष वेषभूषा नहीं है। वस्तुतः जो व्यक्ति समभाव की साधना करेगा, वीतराग दशा को प्राप्त करेगा, वह मुक्त होगा। उनके शब्दों में –

सेयंबरो य आसंबरो य बुद्धो य अहव अण्णो वा।
समभावभावि अप्पा लहइ मुक्खं न संदेहो॥

अर्थात् जो भी समभाव की साधना करेगा वह निश्चित ही मोक्ष को प्राप्त करेगा, फिर चाहे वह श्वेताम्बर हो या दिगम्बर, बौद्ध हो या अन्य किसी धर्म को मानने वाला।

साधना के क्षेत्र में उपास्य का नाम-भेद महत्त्वपूर्ण नहीं

हरिभद्र की दृष्टि में आराध्य के नाम-भेदों को लेकर धर्म के क्षेत्र में विवाद करना उचित नहीं है। लोकतत्त्वनिर्णय में वे कहते हैं –

यस्य निखिलाश्च दोषा न सन्ति सर्वे गुणाश्च विद्यन्ते।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो जिनो वा नमस्तस्मै॥

वस्तुतः जिसके सभी दोष विनष्ट हो चुके हैं और जिनमें सभी गुण विद्यमान हैं फिर उसे चाहे ब्रह्मा कहा जाये, चाहे विष्णु, चाहे जिन कहा जाय, उसमें भेद नहीं। सभी धर्म और दर्शनों में उस परमतत्त्व या परमसत्ता को राग-द्वेष, तृष्णा और आसक्ति से रहित विषय-वासनाओं से ऊपर उठी हुई पूर्णप्रज्ञ

तथा परम कारुणिक माना गया है, किन्तु हमारी दृष्टि उस परमतत्त्व के मूलभूत स्वरूप पर न होकर नामों पर टिकी होती है और इसी के आधार पर हम विवाद करते हैं। जब कि यह नामों का भेद अपने आप में कोई अर्थ नहीं रखता है। योगदृष्टिसमुच्चय में वे लिखते हैं कि –

सदाशिवः परं ब्रह्म सिद्धात्मा च तथागतः ।
शब्दैस्तद् उच्यतेऽन्वर्थाद् एक एवैवमादिभिः ॥

अर्थात् सदाशिव, परब्रह्म, सिद्धात्मा, तथागत आदि नामों में केवल शब्द भेद हैं, उनका अर्थ तो एक ही है। वस्तुतः यह नामों का विवाद तभी तक रहता है जब तक हम उस आध्यात्मिक सत्ता की अनुभूति नहीं कर पाते हैं। व्यक्ति जब वीतराग, वीततृष्णा या अनासक्ति की भूमिका का स्पर्श करता है तब उसके सामने नामों का यह विवाद निरर्थक हो जाता है। वस्तुतः आराध्य के नामों की भिन्नता भाषागत भिन्नता है, स्वरूपगत भिन्नता नहीं। जो इन नामों के विवादों में उलझता है, वह अनुभूति से वंचित हो जाता है। वे कहते हैं कि जो उस परमतत्त्व की अनुभूति कर लेता है उसके लिये यह शब्दगत समस्त विवाद निरर्थक हो जाते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि उदारचेता, समन्वयशील और सत्यनिष्ठ आचार्यों में हरिभद्र के समतुल्य किसी अन्य आचार्य को खोज पाना कठिन है। अपनी इन विशेषताओं के कारण भारतीय दार्शनिकों के इतिहास में वे अद्वितीय और अनुपम हैं।

क्रान्तदर्शी समालोचक : जैन परम्परा के सम्दर्भ में

हरिभद्र के व्यक्तित्व के सम्बन्ध में यह उक्ति अधिक सार्थक है – 'कुसुमों से अधिक कोमल और वज्र से अधिक कठोर।' उनके चिन्तन में एक ओर उदारता है, समन्वयशीलता है, अपने प्रतिपक्षी के सत्य को समझने और स्वीकार करने का विनम्र प्रयास है तो दूसरी ओर असत्य और अनाचार के प्रति तीव्र आक्रोश भी है। दुराग्रह और दुराचार फिर चाहे वह अपने धर्म-सम्प्रदाय में हो या अपने विरोधी के, उनकी समालोचना का विषय बने बिना नहीं रहता है। वे उदार हैं, किन्तु सत्याग्रही भी। वे समन्वयशील हैं, किन्तु समालोचक भी। वस्तुतः एक सत्य-द्रष्टा में ये दोनों तत्त्व स्वाभाविक रूप से ही उपस्थित होते हैं। जब वह सत्य की खोज करता है तो एक ओर सत्य को, चाहे फिर वह उसके अपने धर्म-सम्प्रदाय में हो या उसके प्रतिपक्षी में, वह सदाशयतापूर्वक उसे स्वीकार करता है, किन्तु दूसरी ओर असत्य को, चाहे

फिर वह भी उसके अपने धर्म-सम्प्रदाय में हो या उसके प्रतिपक्षी में, वह साहसपूर्वक उसे नकारता है। हरिभद्र के व्यक्तित्व का यही सत्याग्रही स्वरूप उनकी उदारता और क्रान्तिकारिता का उत्स है। पूर्व में मैंने हरिभद्र के उदार और समन्वयशील पक्ष की विशेष रूप से चर्चा की थी, अब मैं उनकी क्रान्तिधर्मिता की चर्चा करना चाहूँगा।

क्रान्तदर्शी हरिभद्र

हरिभद्र के धर्म-दर्शन के क्रान्तिकारी तत्त्व वैसे तो उनके सभी ग्रन्थों में कहीं न कहीं दिखाई देते हैं, फिर भी शास्त्रवार्तासमुच्चय, धूर्ताख्यान और सम्बोधप्रकरण में वे विशेष रूप से परिलक्षित होते हैं। जहाँ शास्त्रवार्तासमुच्चय और धूर्ताख्यान में वे दूसरों की कमियों को उजागर करते हैं वहीं सम्बोधप्रकरण में अपने पक्ष की समीक्षा करते हुए उसकी कमियों का भी निर्भीक रूप से चित्रण करते हैं।

हरिभद्र अपने युग के धर्म-सम्प्रदायों में उपस्थित अन्तर और बाह्य के द्वैत को उजागर करते हुए कहते हैं, " लोग धर्म-मार्ग की बातें करते हैं, किन्तु सभी तो उस धर्म-मार्ग से रहित हैं।" [२७] मात्र बाहरी क्रियाकाण्ड धर्म नहीं है। धर्म तो वहाँ होता है जहाँ परमात्म-तत्त्व की गवेषणा हो। दूसरे शब्दों में, जहाँ आत्मानुभूति हो, 'स्व' को जानने और पाने का प्रयास हो। जहाँ परमात्म-तत्त्व को जानने और पाने का प्रयास नहीं है वहाँ धर्म-मार्ग नहीं है। वे कहते हैं – जिसमें परमात्म-तत्त्व की मार्गणा है, परमात्मा की खोज और प्राप्ति है, वही धर्म-मार्ग मुख्य मार्ग है।[२८] आगे वे पुनः धर्म के मर्म को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं – जहाँ विषय-वासनाओं का त्याग हो ; क्रोध, मान, माया और लोभरूपी कषायों से निवृत्ति हो; वही तो धर्म-मार्ग है। जिस धर्म-मार्ग या साधना-पथ में इसका अभाव है वह तो (हरिभद्र की दृष्टि में) नाम का धर्म है।[२९] वस्तुतः धर्म के नाम पर जो कुछ हुआ है और हो रहा है उसके सम्बन्ध में हरिभद्र की यह पीड़ा मर्मान्तक है। जहाँ विषय-वासनाओं का पोषण होता हो, जहाँ घृणा-द्वेष और अहंकार के तत्त्व अपनी मुट्ठी में धर्म को दबोचे हुए हों, उसे धर्म कहना धर्म की विडम्बना है। हरिभद्र की दृष्टि में वह धर्म नहीं अपितु धर्म के नाम पर धर्म का आवरण डाले हुए कुछ अन्य अर्थात् अधर्म ही है। विषय-वासनाओं और कषायों अर्थात् क्रोधादि दुष्प्रवृत्तियों के त्याग के अतिरिक्त धर्म का अन्य कोई रूप हो ही नहीं सकता है। उन सभी लोगों की, जो धर्म के नाम पर अपनी वासनाओं और अहंकार के पोषण का प्रयत्न करते हैं और मोक्ष को अपने अधिकार की वस्तु मानकर यह कहते हैं कि मोक्ष केवल हमारे धर्म-मार्ग का

आचरण करने से होगा, समीक्षा करते हुए हरिभद्र यहाँ तक कह देते हैं कि धर्म-मार्ग किसी एक सम्प्रदाय की बपौती नहीं है, जो भी समभाव की साधना करेगा वह मुक्त होगा; वह चाहे श्वेताम्बर हो या दिगम्बर, बौद्ध हो या अन्य कोई।[१०] वस्तुतः उस युग में जब साम्प्रदायिक दुरभिनिवेश आज की भाँति ही अपने चरम सीमा पर थे, यह कहना न केवल हरिभद्र की उदारता की सदाशयता का प्रतीक है, अपितु उनके एक क्रान्तदर्शी आचार्य होने का प्रमाण भी है। उन्होंने जैन-परम्परा के निक्षेप के सिद्धान्त को आधार बनाकर धर्म को भी चार भागों में विभाजित कर दिया [११] —

(१) **नामधर्म** — धर्म का वह रूप जो धर्म कहलाता है, किन्तु जिसमें धार्मिकता का कोई लक्षण नहीं है। वह धर्मतत्त्व से रहित मात्र नाम का धर्म है।

(२) **स्थापनाधर्म** — जिन क्रियाकाण्डों को धर्म मान लिया जाता है, वे वस्तुतः धर्म नहीं धार्मिकता के परिचायक बाह्य रूप मात्र हैं। पूजा, तप आदि धर्म के प्रतीक हैं, किन्तु भावना के अभाव में वे वस्तुतः धर्म नहीं हैं।

(३) **द्रव्यधर्म** — वे आचार-परम्पराएँ, जो कभी धर्म थीं, या धार्मिक समझी जाती थीं, किन्तु वर्तमान सन्दर्भ में धर्म नहीं हैं। सत्त्वशून्य अप्रासंगिक बनी धर्म-परम्पराएँ ही द्रव्यधर्म हैं।

(४) **भावधर्म** — जो वस्तुतः धर्म है वही भाव धर्म है। यथा-समभाव की साधना, विषयकषाय से निवृत्ति आदि भावधर्म हैं।

हरिभद्र धर्म के इन चार रूपों में भावधर्म को ही प्रधान मानते हैं। वे कहते हैं कि जिस प्रकार तक्रादि के संयोग, मन्थन की प्रक्रिया और अग्नि द्वारा परितापन के फलस्वरूप दूध में घृत प्रकट होता है, उसी प्रकार धर्म-मार्ग के द्वारा दूध रूपी आत्मा घृत रूप परमात्मतत्त्व को प्राप्त होता है।[१२] वे स्पष्ट रूप से कहते हैं कि यह जो भावगत धर्म है, वही विशुद्धि का हेतु है।[१३] यद्यपि हरिभद्र के इस कथन का यह आशय भी नहीं लेना चाहिए कि हरिभद्र कर्मकाण्ड के पूर्णतः विरोधी हैं। उन्होंने स्वयं ही सम्बोधप्रकरण की लगभग ५०-६० गाथाओं में आत्मशुद्धि निमित्त जिनपूजा और उसमें होने वाली आशातनाओं का सुन्दर चित्रण किया है। मात्र उनका प्रतिपाद्य यह है कि इन कर्मकाण्डों का मूल्य भावना-शुद्धि के आधार पर ही निधारित होता है।[१४] यदि धार्मिक जीवन में वासना और कषायों का शमन और आत्म-विशुद्धि नहीं होती है तो कर्मकाण्ड का कोई मूल्य नहीं रह जाता है। वस्तुतः हरिभद्र साध्य की उपलब्धि के आधार

पर ही साधन का मूल्यांकन करते हैं। वे उन विचारकों में से हैं जिन्हें धर्म के मर्म की पहचान है, अतः वे धर्म के नाम पर ढोंग, आडम्बर और लोकैषणा की पूर्ति के प्रयत्नों को कोई स्थान नहीं देना चाहते हैं। यही उनकी क्रान्तधर्मिता है।

हरिभद्र के युग में जैन-परम्परा में चैत्यवास का विकास हो चुका था। अपने आपको श्रमण और त्यागी कहने वाला मुनिवर्ग जिनपूजा और मन्दिर-निर्माण के नाम पर न केवल परिग्रह का संचय कर रहा था, अपितु जिनद्रव्य (जिन प्रतिमा को समर्पित द्रव्य) का अपनी विषय-वासनाओं की पूर्ति में उपयोग भी कर रहा था। जिन-प्रतिमा और जिन-मन्दिर तथाकथित श्रमणों की ध्यान-भूमि या साधना-भूमि न बनकर भोग-भूमि बन रहे थे। हरिभद्र जैसे क्रान्तदर्शी आचार्य के लिये यह सब देख पाना सम्भव नहीं था, अतः उन्होंने इसके विरोध में अपनी कलम चलाने का निर्णय लिया। वे लिखते हैं — द्रव्य-पूजा तो गृहस्थों के लिये है, मुनि के लिए तो केवल भाव-पूजा है। जो केवल मुनि-वेशधारी हैं, मुनि-आचार का पालन नहीं करते हैं, उनके लिए द्रव्य-पूजा जिन-प्रवचन की निन्दा का कारण होने से उचित नहीं है (सम्बोधप्रकरण, १/२७३)। वस्तुतः यहाँ हरिभद्र ने मन्दिर-निर्माण, प्रतिष्ठा, पूजा आदि कार्यों में उलझने पर मुनि-वर्ग का जो पतन हो सकता था, उसका पूर्वानुमान कर लिया था। यति संस्था के विकास से उनका यह अनुमान सत्य ही सिद्ध हुआ। इस सम्बन्ध में उन्होंने जो कुछ लिखा उसमें एक ओर उनके युग के समाज के प्रति उनकी आत्म-पीड़ा मुखर हो रही है तो दूसरी ओर उसमें एक धर्मक्रान्ति का स्वर भी सुनाई दे रहा है। जिन-द्रव्य को अपनी वासना-पूर्ति का साधन बनाने वाले उन श्रावकों एवं तथाकथित श्रमणों को ललकारते हुए वे कहते हैं — जो श्रावक जिन-प्रवचन और ज्ञान-दर्शन गुणों की प्रभावना और वृद्धि करने वाले जिन-द्रव्य का जिनाज्ञा के विपरीत उपयोग करते हैं, दोहन करते हैं अथवा भक्षण करते हैं, वे क्रमशः भवसमुद्र में भ्रमण करने वाले, दुर्गति में जाने वाले और अनन्त संसारी होते हैं।[३५] इसी प्रकार जो साधु जिनद्रव्य का भोजन करता है वह प्रायश्चित्त का पात्र है।[३६] वस्तुतः यह सब इस तथ्य का भी सूचक है कि उस युग में धर्म साधना का माध्यम न रहकर वासना-पूर्ति का माध्यम बन रहा था। अतः हरिभद्र जैसे प्रबुद्ध आचार्य के लिये उसके प्रति संघर्ष करना आवश्यक हो गया।

सम्बोधप्रकरण में हरिभद्र ने अपने युग के जैन साधुओं का जो चित्रण किया है वह एक ओर जैन धर्म में साधु-जीवन के नाम पर जो कुछ हो रहा था उसके प्रति हरिभद्र की पीड़ा को प्रदर्शित करता है तो दूसरी ओर यह भी बताता

है कि हरिभद्र तत्कालीन परिस्थितियों के मूक दर्शक और तटस्थ समीक्षक ही नहीं थे, अपितु उनके मन में सामाजिक और धार्मिक क्रान्ति की एक तीव्र आकांक्षा भी थी। वे अपनी समालोचना के द्वारा जनसमाज में एक परिवर्तन लाना चाहते थे।

तत्कालीन तथाकथित श्रमणों के आचार-व्यवहार पर कटाक्ष करते हुए वे लिखते हैं कि जिन-प्रवचन में पार्श्वस्थ, अवसन्न, कुशील, संसक्त और यथाछन्द (स्वेच्छाचारी) – ये पाँचों अवन्दनीय हैं। यद्यपि ये लोग जैन मुनि का वेश धारण करते हैं, किन्तु इनमें मुनित्व का लक्षण नहीं है। मुनि-वेश धारण करके भी ये क्या-क्या दुष्कर्म करते थे, इसका सजीव चित्रण तो वे अपने ग्रन्थ सम्बोधप्रकरण के द्वितीय अधिकार में 'कुगुरु गुर्व्वाभास पार्श्वस्थ आदि स्वरूप' के अन्तर्गत १७१ गाथाओं में विस्तार से करते हैं। इस संक्षिप्त निबन्ध में उन सब की समग्र चर्चा एवं व्याख्या करना तो सम्भव नहीं है, फिर भी हरिभद्र की कठोर समालोचक दृष्टि का परिचय देने के लिये कुछ विवरण देना भी आवश्यक है। वे लिखते हैं, ये मुनि-वेशधारी तथाकथित श्रमण आवास देने वाले का या राजा के यहाँ का भोजन करते हैं, बिना कारण ही अपने लिये लाए गए भोजन को स्वीकार करते हैं, भिक्षाचर्या नहीं करते हैं, आवश्यक कर्म अर्थात् प्रतिक्रमण आदि श्रमण-जीवन के अनिवार्य कर्तव्य का पालन नहीं करते हैं, कौतुक कर्म, भूत-कर्म, भविष्य-फल एवं निमित्त-शास्त्र के माध्यम से धन-संचय करते हैं, ये घृत-मक्खन आदि विकृतियों को संचित करके खाते हैं, सूर्य-प्रमाण भोजी होते हैं अर्थात् सूर्योदय से सूर्यास्त तक अनेक बार खाते रहते हैं, न तो साधु-समूह (मण्डली) में बैठकर भोजन करते हैं और न केशलुंचन करते हैं।[३७] फिर ये करते क्या हैं? हरिभद्र लिखते हैं, सवारी में घूमते हैं, अकारण कटि वस्त्र बाँधते हैं और सारी रात निश्चेष्ट होकर सोते रहते हैं। न तो आते-जाते समय प्रमार्जन करते हैं, न अपनी उपाधि (सामग्री) का प्रतिलेखन करते हैं और न स्वाध्याय ही करते हैं।

अनैषणीय पुष्प, फल और पेय ग्रहण करते हैं। भोज-समारोहों में जाकर सरस आहार ग्रहण करते हैं। जिन-प्रतिमा का रक्षण एवं क्रय-विक्रय करते हैं। उच्चाटन आदि कर्म करते हैं। नित्य दिन में दो बार भोजन करते हैं तथा लवंग, ताम्बूल और दूध आदि विकृतियों का सेवन करते हैं। विपुल मात्रा में दुकूल आदि वस्त्र, बिस्तर, जूते, वाहन आदि रखते हैं। स्त्रियों के समक्ष गीत गाते हैं। आर्यिकाओं के द्वारा लायी सामग्री लेते हैं। लोक-प्रतिष्ठा के लिए मुण्डन करवाते हैं तथा मुखवस्त्रिका एवं रजोहरण धारण करते हैं। चैत्यों में निवास

करते हैं, (द्रव्य) पूजा आदि कार्य आरम्भ करवाते हैं, जिन-मन्दिर बनवाते हैं, हिरण्य-सुवर्ण रखते हैं, नीच कुलों को द्रव्य देकर उनसे शिष्य ग्रहण करते हैं। मृतक-कृत्य निमित्त जिन-पूजा करवाते हैं, मृतक के निमित्त जिन-दान (चढावा) करवाते हैं। धन-प्राप्ति के लिये गृहस्थों के समक्ष अंग-सूत्र आदि का प्रवचन करते हैं। अपने हीनाचारी मृत गुरु के निमित्त नदिकर्म, बलिकर्म आदि करते हैं। पाट-महोत्सव रचाते हैं। व्याख्यान में महिलाओं से अपना गुणगान करवाते हैं। यति केवल स्त्रियों के सम्मुख और आर्यिकाएँ केवल पुरुषों के सम्मुख व्याख्यान करती हैं। इस प्रकार जिन-आज्ञा का अपलाप कर मात्र अपनी वासनाओं का पोषण करते हैं। ये व्याख्यान करके गृहस्थों से धन की याचना करते हैं। ये तो ज्ञान के भी विक्रेता हैं। ऐसे आर्यिकाओं के साथ रहने और भोजन करने वाले द्रव्य संग्राहक, उन्मार्ग के पक्षधर मिथ्यात्वपरायण न तो मुनि कहे जा सकते हैं और न आचार्य ही हैं।[३८] ऐसे लोगों का वन्दन करने से न तो कीर्ति होती है और न निर्जरा ही, इसके विपरीत शरीर को मात्र कष्ट और कर्मबन्धन होता है।[३९]

वस्तुत: जिस प्रकार गन्दगी में गिरी हुई माला को कोई भी धारण नहीं करता है, वैसे ही ये भी अपूज्य हैं।[४०] हरिभद्र ऐसे वेशधारियों को फटकारते हुए कहते हैं – यदि महापूजनीय यति (मुनि) वेश धारण करके शुद्ध चरित्र का पालन तुम्हारे लिए शक्य नहीं है तो फिर गृहस्थ वेश क्यों नहीं धारण कर लेते हो? अरे, गृहस्थवेश में कुछ प्रतिष्ठा तो मिलेगी, किन्तु मुनि-वेश धारण करके यदि उसके अनुरूप आचरण नहीं करोगे तो उल्टे निन्दा के ही पात्र बनोगे।[४१] यह उन जैसे साहसी आचार्य का कार्य हो सकता है जो अपने सहवर्गियों को इतने स्पष्ट रूप में कुछ कह सके। जैसे कि मैंने पूर्व पृष्ठों में चर्चा की है, हरिभद्र तो इतने उदार हैं कि वे अपनी विरोधी दर्शन-परम्परा के आचार्यों को भी महामुनि, सुवैद्य जैसे उत्तम विशेषणों से सम्बोधित करते हैं, किन्तु वे उतने ही कठोर होना भी जानते हैं, विशेष रूप से उनके प्रति जो धार्मिकता का आवरण डालकर भी अधार्मिक हैं। ऐसे लोगों के प्रति यह क्रान्तिकारी आचार्य कहता है —

ऐसे दुश्शील, साधु-पिशाचों को जो भक्तिपूर्वक वन्दन नमस्कार करता है, क्या वह महापाप नहीं है?[४२] अरे, इन सुखशील स्वच्छन्दाचारी मोक्ष-मार्ग के वैरी, आज्ञाभ्रष्ट साधुओं को संयति अर्थात् मुनि मत कहो। अरे, देवद्रव्य के भक्षण में तत्पर, उन्मार्ग के पक्षधर और साधुजनों को दूषित करने वाले इन वेशधारियों को संघ मत कहो। अरे, इन अधर्म और अनीति के पोषक, अनाचार

का सेवन करने वाले और साधुता के चोरों को संघ मत कहो। जो ऐसे (दुराचारियों के समूह) को राग या द्वेष के वशीभूत होकर भी संघ कहता है उसे भी छेद-प्रायश्चित्त होता है।[४३] हरिभद्र पुनः कहते हैं – जिनाज्ञा का अपलाप करने वाले इन मुनि वेशधारियों के संघ में रहने की अपेक्षा तो गर्भवास और नरकवास कहीं अधिक श्रेयस्कर है।[४४]

हरिभद्र की यह शब्दावली इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि धर्म के नाम पर अधर्म का पोषण करने वाले अपने ही सहवर्गियों के प्रति उनके मन में कितना विद्रोह एवं आक्रोश है। वे तत्कालीन जैन-संघ को स्पष्ट चेतावनी देते हैं कि ऐसे लोगों को प्रश्रय मत दो, उनका आदर-सत्कार मत करो, अन्यथा धर्म का यथार्थ स्वरूप ही धूमिल हो जाएगा। वे कहते हैं कि यदि आम और नीम की जड़ों का समागम हो जाय तो नीम का कुछ नहीं बिगड़ेगा, किन्तु उसके संसर्ग में आम का अवश्य विनाश हो जाएगा।[४५] वस्तुतः हरिभद्र की क्रान्तदर्शिता यथार्थ ही है, क्योंकि दुराचारियों के सान्निध्य में चारित्रिक पतन की सम्भावना प्रबल होती है। वे स्वयं कहते हैं, जो जिसकी मित्रता करता है, तत्काल वैसा हो जाता है। तिल जिस फूल में डाल दिये जाते हैं उसी की गन्ध के हो जाते हैं।[४६] हरिभद्र इस माध्यम से समाज को उन लोगों से सतर्क रहने का निर्देश देते हैं जो धर्म का नकाब डाले अधर्म में जीते हैं, क्योंकि ऐसे लोग दुराचारियों की अपेक्षा भी समाज के लिये अधिक खतरनाक हैं। आचार्य ऐसे लोगों पर कटाक्ष करते हुए कहते हैं – जिस प्रकार कुलवधू का वेश्या के घर जाना निषिद्ध है, उसी प्रकार सुश्रावक के लिये हीनाचारी यति का सान्निध्य निषिद्ध है। दुराचारी अगीतार्थ के वचन सुनने की अपेक्षा तो दृष्टि विष सर्प का सान्निध्य या हलाहल विष का पान कहीं अधिक अच्छा है (क्योंकि ये तो एक जीवन का विनाश करते हैं, जबकि दुराचारी का सान्निध्य तो जन्म-जन्मान्तर का विनाश कर देता है)।[४७]

फिर भी ऐसा लगता है कि इस क्रान्तदर्शी आचार्य की बात अनसुनी हो रही थी, क्योंकि शिथिलाचारियों के अपने तर्क थे। वे लोगों के सम्मुख कहते थे कि सामग्री (शरीर-सामर्थ्य) का अभाव है। वक्र जड़ों का काल है। दुषमा काल में विधि मार्ग के अनुरूप आचरण कठिन है। यदि कठोर आचार की बात कहेंगे तो कोई मुनि व्रत धारण नहीं करेगा। तीर्थोच्छेद और सिद्धान्त के प्रवर्तन का प्रश्न है, हम क्या करें।[४८] उनके इन तर्कों से प्रभावित हो मूर्ख जन-साधारण कह रहा था कि कुछ भी हो वेश तो तीर्थङ्कर प्रणीत है, अतः वन्दनीय है। हरिभद्र भारी मन से मात्र यही कहते हैं कि मैं अपने सिर की पीड़ा किससे कहूँ।[४९]

किन्तु यह तो प्रत्येक क्रान्तिकारी की नियति होती है। प्रथम क्षण में जनसाधारण भी उसके साथ नहीं होता है। अतः हरिभद्र का इस पीड़ा से गुजरना उनके क्रान्तिकारी होने का ही प्रमाण है। सम्भवतः जैन-परम्परा में यह प्रथम अवसर था, जब जैन समाज के तथाकथित मुनि वर्ग को इतना स्पष्ट शब्दों में किसी आचार्य ने लताड़ा हो। वे स्वयं दुःखी मन से कहते हैं – हे प्रभु ! जंगल में निवास और दरिद्र का साथ अच्छा है, अरे, व्याधि और मृत्यु भी श्रेष्ठ है, किन्तु इन कुशीलों का सान्निध्य अच्छा नहीं है। अरे, (अन्य परम्परा के) हीनाचारी का साथ भी अच्छा हो सकता है, किन्तु (अपनी ही परम्परा के) इन कुशीलों का साथ तो बिल्कुल अच्छा नहीं है। क्योंकि हीनाचारी तो अल्प नाश करता है किन्तु ये तो शीलरूपी निधि का सर्वनाश ही कर देते हैं।[50] वस्तुतः इस कथन के पीछे आचार्य की एक मनोवैज्ञानिक दृष्टि है। क्योंकि जब हम किसी को इतर परम्परा का मान लेते हैं तो उसकी कमियों को कमियों के रूप में ही जानते हैं। अतः उसके सम्पर्क के कारण संघ में उतनी विकृति नहीं आती है, जितनी जैन मुनि का वेश धारण कर दुराचार का सेवन करने वाले के सम्पर्क से। क्योंकि उसके सम्पर्क से उस पर श्रद्धा होने पर व्यक्ति का और संघ का जीवन पतित बन जाएगा। यदि सद्भाग्य से अश्रद्धा हुई तो वह जिन प्रवचन के प्रति अश्रद्धा को जन्म देगा (क्योंकि सामान्यजन तो शास्त्र नहीं वरन् उस शास्त्र के अनुगामी का जीवन देखता है), फलतः उभयतो सर्वनाश का कारण होगी, अतः आचार्य हरिभद्र बार-बार जिन-शासन-रसिकों को निर्देश देते हैं – ऐसे जिनशासन के कलंक, शिथिलाचारियों और दुराचारियों की तो छाया से भी दूर रहो, क्योंकि ये तुम्हारे जीवन, चारित्रबल और श्रद्धा सभी को चौपट कर देंगे।[51] हरिभद्र को जिन-शासन के विनाश का खतरा दूसरों से नहीं, अपने ही लोगों से अधिक लगा। कहा भी है –

इस घर को आग लग गई घर के चिराग से।

वस्तुतः एक क्रान्तदर्शी आचार्य के रूप में हरिभद्र का मुख्य उद्देश्य था जन संघ में उनके युग में जो विकृतियाँ आ गयी थीं, उन्हें दूर करना। अतः उन्होंने अपने ही पक्ष की कमियों को अधिक गम्भीरता से देखा। जो सच्चे अर्थ में समाज-सुधारक होता है, जो सामाजिक जीवन में परिवर्तन लाना चाहता है, वह प्रमुख रूप से अपनी ही कमियों को खोजता है। हरिभद्र ने इस रूप में सम्बोधप्रकरण में एक क्रान्तिकारी की भूमिका निभाई है। क्रान्तिकारी के दो कार्य होते हैं, एक तो समाज में प्रचलित विकृत मान्यताओं की समीक्षा करना और उन्हें समाप्त करना, किन्तु मात्र इतने से उसका कार्य पूरा नहीं होता है।

उसका दूसरा कार्य होता है सत् मान्यताओं को प्रतिष्ठित या पुनः प्रतिष्ठित करना। हम देखते हैं कि आचार्य हरिभद्र ने दोनों बातों को अपनी दृष्टि में रखा है।

उन्होंने अपने ग्रन्थ सम्बोधप्रकरण में देव, गुरु, धर्म, श्रावक आदि का सम्यक् स्वरूप कैसा होना चाहिए, इसकी भी विस्तृत व्याख्या की है। हरिभद्र ने जहाँ वेशधारियों की समीक्षा की है, वहीं आगमोक्त दृष्टि से गुरु कैसा होना चाहिए, इसकी विस्तृत विवेचना भी की है। हम उसके विस्तार में न जाकर संक्षेप में यही कहेंगे कि हरिभद्र की दृष्टि में जो पाँच महाव्रतों, पाँच समितियों, तीन गुप्तियों के पालन में तत्पर है, जो जितेन्द्रिय, संयमी, परिषहजयी, शुद्ध आचरण करनेवाला और सत्य-मार्ग को बताने वाला है, वही सुगुरु है।[५२]

हरिभद्र के युग में गुरु के सम्बन्ध में एक प्रकार का वैयक्तिक अभिनिवेश विकसित हो गया था। कुलगुरु की वैदिक अवधारणा की भाँति प्रत्येक गुरु के आस-पास एक वर्ग एकत्रित हो रहा था, जो उन्हें अपना गुरु मानता था तथा अन्य को गुरु रूप में स्वीकार नहीं करता था। श्रावकों का एक विशेष समूह एक विशेष आचार्य को अपना गुरु मानता था, जैसा कि आज भी देखा जाता है। हरिभद्र ने इस परम्परा में साम्प्रदायिकता के दुरभिनिवेश के बीज देख लिये थे। उन्हें यह स्पष्ट लग रहा था कि इससे साम्प्रदायिक अभिनिवेश दृढ़ होंगे। समाज विभिन्न छोटे-छोटे वर्गों में बँट जाएगा। इसके विकास का दूसरा मुख्य खतरा यह था कि गुणपूजक जैन धर्म व्यक्तिपूजक बन जायेगा और वैयक्तिक रागात्मकता के कारण चारित्रिक दोषों के बावजूद भी एक विशेष वर्ग की, एक विशेष आचार्य की इस परम्परा से रागात्मकता जुड़ी रहेगी। युग-द्रष्टा इस आचार्य ने सामाजिक विकृति को समझा और स्पष्ट रूप से निर्देश दिया — श्रावक का कोई अपना और पराया गुरु नहीं होता है, जिनाज्ञा के पालन में निरत सभी उसके गुरु हैं।[५३] काश, हरिभद्र के द्वारा कथित इस सत्य को हम आज भी समझ सकें तो समाज की टूटी हुई कड़ियों को पुनः जोड़ा जा सकता है।

क्रान्तदर्शी समालोचक : अन्य परम्पराओं के सन्दर्भ में

पूर्व में हमने जैन परम्परा में व्याप्त अन्धविश्वासों एवं धर्म के नाम पर होने वाली आत्म-प्रवंचनाओं के प्रति हरिभद्र के क्रान्तिकारी अवदान की चर्चा सम्बोधप्रकरण के आधार पर की है। अब मैं अन्य परम्पराओं में प्रचलित अन्धविश्वासों की हरिभद्र द्वारा की गई शिष्ट समीक्षा को प्रस्तुत करूँगा।

हरिभद्र की क्रान्तदर्शी दृष्टि जहाँ एक ओर अन्य धर्म एवं दर्शनों में निहित सत्य को स्वीकार करती है, वहीं दूसरी ओर उनकी अयुक्तिसंगत

कपोलकल्पनाओं की व्यंग्यात्मक शैली में समीक्षा भी करती है। इस सम्बन्ध में उनका धूर्ताख्यान नामक ग्रन्थ विशेष महत्त्वपूर्ण है। इस ग्रन्थ की रचना का मुख्य उद्देश्य भारत (महाभारत), रामायण और पुराणों की काल्पनिक और अयुक्तिसंगत अवधारणाओं की समीक्षा करना है। यह समीक्षा व्यंग्यात्मक शैली में है। धर्म के सम्बन्ध में कुछ मिथ्या विश्वास युगों से रहे हैं, फिर भी पुराण-युग में जिस प्रकार मिथ्या-कल्पनाएँ प्रस्तुत की गईं – वे भारतीय मनीषा के दिवालियेपन की सूचक सी लगती हैं। इस पौराणिक प्रभाव से ही जैन-परम्परा में भी महावीर के गर्भ-परिवर्तन, उनके अँगूठे को दबाने मात्र से मेरु-कम्पन जैसी कुछ चमत्कारिक घटनाएँ प्रचलित हुईं। यद्यपि जैन-परम्परा में भी चक्रवर्ती, वासुदेव आदि की रानियों की संख्या एवं उनकी सेना की संख्या, तीर्थङ्करों के शरीर-प्रमाण एवं आयु आदि के विवरण सहज विश्वसनीय तो नहीं लगते हैं, किन्तु तार्किक असंगति से युक्त नहीं हैं। सम्भवत: यह सब भी पौराणिक परम्परा का प्रभाव था जिसे जैन परम्परा को अपने महापुरुषों की अलौकिकता को बताने हेतु स्वीकार करना पड़ा था; फिर भी यह मानना होगा कि जैन-परम्परा में ऐसी कपोल-कल्पनाएँ अपेक्षाकृत बहुत ही कम हैं। साथ ही महावीर के गर्भ-परिवर्तन की घटना, जो मुख्यत: ब्राह्मण की अपेक्षा क्षत्रिय की श्रेष्ठता स्थापित करने हेतु गढ़ी गई थी, के अतिरिक्त, सभी पर्याप्त परवर्ती काल की हैं और पौराणिक युग की ही देन हैं और इनमें कपोल-काल्पनिकता का पुट भी अधिक नहीं है। गर्भ-परिवर्तन की घटना छोड़कर, जिसे आज विज्ञान ने सम्भव बना दिया है, अविश्वसनीय और अप्राकृतिक रूप से जन्म लेने का जैन परम्परा में एक भी आख्यान नहीं है, जबकि पुराणों में ऐसे हजार से अधिक आख्यान हैं। जैन-परम्परा सदैव तर्कप्रधान रही है, यही कारण था कि महावीर की गर्भ-परिवर्तन की घटना को भी उसके एक वर्ग ने स्वीकार नहीं किया।

हरिभद्र के ग्रन्थों का अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि ये एक ऐसे आचार्य हैं जो युक्ति को प्रधानता देते हैं। उनका स्पष्ट कथन है कि महावीर ने हमें कोई धन नहीं दिया है और कपिल आदि ऋषियों ने हमारे धन का अपहरण नहीं किया है, अत: हमारा न तो महावीर के प्रति राग है और न कपिल आदि ऋषियों के प्रति द्वेष। जिसकी भी बात युक्तिसंगत हो उसे ग्रहण करना चाहिए।[५४] इस प्रकार हरिभद्र तर्क को ही श्रद्धा का आधार मानकर चलते हैं। जैन-परम्परा के अन्य आचार्यों के समान वे भी श्रद्धा के विषय देव, गुरु और धर्म के यथार्थ स्वरूप के निर्णय के लिए क्रमश: वीतरागता, सदाचार और अहिंसा को कसौटी मानकर चलते हैं और तर्क या युक्ति से जो इन कसौटियों

पर खरा उतरता है, उसे स्वीकार करने की बात कहते हैं। जिस प्रकार सम्बोधप्रकरण में मुख्य रूप से गुरु के स्वरूप की समीक्षा करते हैं उसी प्रकार धूर्ताख्यान में वे परोक्षत: देव या आराध्य के स्वरूप की समीक्षा करते प्रतीत होते हैं। वे यह नहीं कहते हैं कि ब्रह्मा, विष्णु एवं महादेव हमारे आराध्य नहीं हैं। वे तो स्वयं ही कहते हैं जिसमें कोई भी दोष नहीं है और जो समस्त गुणों से युक्त है वह ब्रह्मा हो, विष्णु हो या महादेव हो, उसे मैं प्रणाम करता हूँ।[५५] उनका कहना मात्र यह है कि पौराणिकों ने कपोल-कल्पनाओं के आधार पर उनके चरित्र एवं व्यक्तित्व को जिस अतर्कसंगत एवं भ्रष्ट रूप में प्रस्तुत किया है उससे न केवल उनका व्यक्तित्व धूमिल होता है, अपितु वे जन-साधारण की अश्रद्धा का कारण बनते हैं।

धूर्ताख्यान के माध्यम से हरिभद्र ऐसे अतर्कसंगत अन्धविश्वासों से जन-साधारण को मुक्त करना चाहते हैं, जिनमें उनके आराध्य और उपास्य देवों को चरित्रहीन के रूप में प्रस्तुत किया गया है। उदाहरण के रूप में चन्द्र, सूर्य, इन्द्र, अग्नि और धर्म का कुमारी एवं बाद में पाण्डु पत्नी कुन्ती से यौन-सम्बन्ध स्थापित कर पुत्र उत्पन्न करना, गौतम ऋषि की पत्नी अहिल्या से इन्द्र द्वारा अनैतिक रूप में यौन-सम्बन्ध स्थापित करना, लोकव्यापी विष्णु का कामी-जनों के समान गोपियों के लिए उद्विग्न होना आदि कथानक इन देवों की गरिमा को खण्डित करते हैं। इसी प्रकार हनुमान का अपनी पूँछ से लंका को घेर लेना अथवा पूरे पर्वत को उठा लाना, सूर्य और अग्नि के साथ सम्भोग करके कुन्ती का न जलना, गंगा का शिव की जटा में समा जाना, द्रोणाचार्य का द्रोण से, कर्ण का कान से, कीचक का बाँस की नली से एवं रक्त कुण्डलिन् का रक्तबिन्दु से जन्म लेना, अण्डे से जगत् की उत्पत्ति, शिवलिंग का विष्णु द्वारा अन्त न पाना, किन्तु उसी लिंग का पार्वती की योनि में समा जाना, जटायु के शरीर को पहाड़ के समान मानना, रावण द्वारा अपने सिरों को काटकर महादेव को अर्पण करना और उनका पुन: जुड़ जाना, बलराम का माया द्वारा गर्भ-परिवर्तन, बालक श्री कृष्ण के पेट में समग्र विश्व का समा जाना, अगस्त्य द्वारा समुद्र-पान और जह्नु के द्वारा गंगापान करना, कृष्ण द्वारा गोवर्धन उठा लेना आदि पुराणों में वर्णित अनेक घटनाएँ या तो उन महान् पुरुषों के व्यक्तित्व को धूमिल करती हैं या आत्म-विरोधी हैं अथवा फिर अविश्वसनीय हैं। यद्यपि यह विचारणीय है कि महावीर के गर्भ-परिवर्तन की घटना, जो कि निश्चित ही हरिभद्र के पूर्व पूर्णत: मान्य हो चुकी थी, को स्वीकार करके भी हरिभद्र बलराम के गर्भ-परिवर्तन को कैसे अविश्वसनीय कह सकते हैं। यहाँ यह भी स्मरणीय

है कि हरिभद्र धूर्ताख्यान में एक धूर्त द्वारा अपने जीवन में घटित अविश्वसनीय घटनाओं का उल्लेख करवाकर फिर दूसरे धूर्त से यह कहलवा देते हैं कि यदि भारत (महाभारत), रामायण आदि में घटित उपर्युक्त घटनाएँ सत्य हैं, तो फिर यह भी सत्य हो सकता है।

हरिभद्र द्वारा व्यंग्यात्मक शैली में रचित इस ग्रन्थ का उद्देश्य तो मात्र इतना ही है कि धर्म के नाम पर पलने वाले अन्धविश्वासों को नष्ट किया जाय और पौराणिक कथाओं में देव या महापुरुष के रूप में मान्य व्यक्तित्वों के चरित्र को अनैतिक रूप में प्रस्तुत करके उसकी आड़ में जो पुरोहित वर्ग अपनी दुश्चरित्रता का पोषण करना चाहता था, उसका पर्दाफाश किया जाय। उस युग का पुरोहित प्रथम तो इन महापुरुषों के चरित्रों को अनैतिक रूप में प्रस्तुत कर और उसके आधार पर यह कहकर कि यदि कृष्ण गोपियों के साथ छेड़छाड़ कर सकते हैं, विवाहिता राधा के साथ अपना प्रेम-प्रसंग चला सकते हैं, यदि इन्द्र महर्षि गौतम की पत्नी के साथ छल से सम्भोग कर सकता है तो फिर हमारे द्वारा यह सब करना दुराचार कैसे कहा जा सकता है? वस्तुतः जिस प्रकार सम्बोधप्रकरण में वे अपनी परम्परा के श्रमण वेशधारी दुश्चरित्र कुगुरुओं को फटकारते हैं, उसी प्रकार धूर्ताख्यान में वे ब्राह्मण परम्परा के तथाकथित धर्म के ठेकेदारों को लताड़ते हैं। फिर भी हरिभद्र की फटकारने की दोनों शैलियों में बहुत बड़ा अन्तर है। सम्बोधप्रकरण में वे सीधे फटकारते हैं जब कि धूर्ताख्यान में व्यंग्यात्मक शैली में। इसमें हरिभद्र की एक मनोवैज्ञानिक दृष्टि छिपी हुई है। हमें जब अपने घर के किसी सदस्य को कुछ कहना होता है तो सीधे कह देते हैं, किन्तु जब दूसरों को कुछ कहना होता है तो परोक्ष रूप में तथा सभ्य शब्दावली का प्रयोग करते हैं। हरिभद्र धूर्ताख्यान में इस दूसरी व्यंग्यपरक शिष्ट शैली का प्रयोग करते हैं और अन्य परम्परा के देव और गुरु पर सीधा आक्षेप नहीं करते हैं।

दूसरे धूर्ताख्यान, शास्त्रवार्तासमुच्चय, योगदृष्टिसमुच्चय, लोकतत्त्वनिर्णय, सावयपण्णति आदि से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि आराध्य या उपास्य के नाम के सम्बन्ध में हरिभद्र के मन में कोई आग्रह नहीं है, मात्र आग्रह है तो इस बात का कि उसका चरित्र निर्दोष और निष्कलंक हो। धूर्ताख्यान में उन्होंने उन सबकी समालोचना की है जो अपनी वासनाओं की पुष्टि के निमित्त अपने उपास्य के चरित्र को धूमिल करते हैं। हम यह अच्छी तरह जानते हैं कि कृष्ण के चरित्र में राधा और गोपियों को डाल कर हमारे पुरोहित वर्ग ने क्या-क्या नहीं किया?

हरिभद्र इस सम्बन्ध में सीधे तो कुछ नहीं कहते हैं, मात्र एक प्रश्न चिह्न छोड़ देते हैं कि सराग और सशस्त्र देव में देवत्व (उपास्य) की गरिमा कहाँ तक ठहर पायेगी। अन्य परम्पराओं के देव और गुरु के सम्बन्ध में उनकी सौम्य एवं व्यंग्यात्मक शैली जहाँ पाठक को चिन्तन के लिए विवश कर देती है, वहीं दूसरी ओर वह उनके क्रान्तिकारी, साहसी व्यक्तित्व को प्रस्तुत कर देती है। हरिभद्र सम्बोधप्रकरण में स्पष्ट कहते हैं कि रागी-देव, दुराचारी-गुरु और दूसरों को पीड़ा पहुँचाने वाली प्रवृत्तियों को धर्म मानना, धर्म साधना के सम्यक् स्वरूप को विकृत करना है। अतः हमें इन मिथ्या विश्वासों से ऊपर उठना होगा। इस प्रकार हरिभद्र जनमानस को अन्धविश्वासों से मुक्त कराने का प्रयास कर अपने क्रान्तदर्शी होने का प्रमाण प्रस्तुत करते हैं।

वस्तुतः हरिभद्र के व्यक्तित्व में एक ओर उदारता और समभाव के सद्गुण हैं तो दूसरी ओर सत्यनिष्ठा और स्पष्टवादिता भी है। उनका व्यक्तित्व अनेक सद्गुणों का एक पूँजीगत स्वरूप है। वे पूर्वाग्रह या पक्षाग्रह से मुक्त हैं, फिर भी उनमें सत्याग्रह तो है, जो उनकी कृतियों में स्पष्टतः परिलक्षित होता है।

आचार्य हरिभद्र का कृतित्व

आचार्य हरिभद्र की रचनाधर्मिता अपूर्व है, उन्होंने धर्म, दर्शन, योग, कथा साहित्य सभी पक्षों पर अपनी लेखनी चलाई। उनकी रचनाओं को ३ भागों में विभक्त किया जा सकता है :–

१. आगमग्रन्थों एवं पूर्वाचार्यों की कृतियों पर टीकाएँ — आचार्य हरिभद्र आगमों के प्रथम संस्कृत टीकाकार हैं। उनकी टीकाएँ अधिक व्यवस्थित और तार्किकता लिये हुये हैं।

२. स्वरचित ग्रन्थ एवं स्वोपज्ञ टीकाएँ — आचार्य ने जैन दर्शन और समकालीन अन्य दर्शनों का गहन अध्ययन करके उन्हें अत्यन्त स्पष्ट रूप में प्रस्तुत किया है। इन ग्रन्थों में सांख्य योग, न्याय-वैशेषिक, अद्वैत, चार्वाक, बौद्ध, जैन आदि दर्शनों का प्रस्तुतीकरण एवं सम्यक् समालोचना की है। जैन योग के तो वे आदि प्रणेता थे, उनका योग विषयक ज्ञान मात्र सैद्धान्तिक नहीं था। इसके साथ ही उन्होंने अनेकान्तजयपताका नामक क्लिष्ट न्याय ग्रन्थ की भी रचना की।

३. कथा-साहित्य — आचार्य ने लोक प्रचलित कथाओं के माध्यम से धर्म-प्रचार को एक नया रूप दिया है। उन्होंने व्यक्ति और समाज की विकृतियों पर प्रहार कर उनमें सुधार लाने का प्रयास किया है। समराइच्चकहा,

धूर्ताख्यान और अन्य लघु कथाओं के माध्यम से उन्होंने अपने युग की संस्कृति का स्पष्ट एवं सजीव चित्रांकन किया है।

आचार्य हरिभद्र विरचित ग्रन्थ-सूची :—

१. अनुयोगद्वार वृत्ति । २. अनेकान्तजयपताका। ३. अनेकान्तघट्ट । ४. अनेकान्तवादप्रवेश । ५. अष्टक । ६. आवश्यकनिर्युक्तिलघुटीका। ७. आवश्यक- निर्युक्तिबृहद्टीका। ८. उपदेशपद । ९. कथाकोश। १०. कर्मस्तववृत्ति । ११. कुलक। १२. क्षेत्रसमासवृत्ति । १३. चतुर्विंशतिस्तुति । १४. चैत्यवंदनभाष्य । १५. चैत्यवन्दनवृत्ति । १६. जीवाभिगमलघुवृत्ति । १७. ज्ञानपंचकविवरण । १८. ज्ञानदिव्यप्रकरण । १९. दशवैकालिक-अवचूरि । २०. दशवैकालिकबृहद्टीका । २१. देवेन्द्रनरकेन्द्रप्रकरण । २२. द्विजवदनचपेटा । २३. धर्मबिन्दु । २४. धर्मलाभसिद्धि । २५. धर्मसंग्रहणी । २६. धर्मसारमूलटीका । २७. धूर्ताख्यान । २८. नंदीवृत्ति । २९. न्यायप्रदेशसूत्रवृत्ति । ३०. न्यायविनिश्चय । ३१. न्यायामृततरंगिणी । ३२. न्यायावतारवृत्ति । ३३. पंचनिर्ग्रन्थी । ३४. पंचलिंगी । ३५. पंचवस्तुसटीक । ३६. पंचसंग्रह । ३७. पंचसूत्रवृत्ति । ३८. पंचस्थानक । ३९. पंचाशक । ४०. परलोकसिद्धि । ४१. पिंडनिर्युक्तिवृत्ति । ४२. प्रज्ञापनाप्रदेशव्याख्या । ४३. प्रतिष्ठाकल्प । ४४. बृहन्मिथ्यात्वमंथन । ४५. मुनिपतिचरित्र । ४६. यतिदिनकृत्य । ४७. यशोधरचरित । ४८. योगदृष्टिसमुच्चय । ४९. योगबिन्दु । ५०. योगशतक । ५१. लग्नशुद्धि । ५२. लोकतत्त्वनिर्णय । ५३. लोकबिन्दु । ५४. विंशतिविंशिका । ५५. वीरस्तव । ५६. वीरांगदकथा । ५७. वेदबाह्यतानिराकरण । ५८. व्यवहारकल्प । ५९.शास्त्रवार्ता-समुच्चयसटीक । ६०. श्रावकप्रज्ञप्तिवृत्ति । ६१. श्रावकधर्मतंत्र । ६२. षड्दर्शनसमुच्चय । ६३. षोडशक । ६४. समकित पचासी । ६५. संग्रहणीवृत्ति । ६६. संमत्तसत्तरी । ६७. संबोधसत्तरी । ६८. समराइच्चकहा । ६९. सर्वज्ञसिद्धिप्रकरणसटीक । ७०. स्याद्वादकुचोद्यपरिहार ।

किन्तु इनमें कुछ ग्रन्थ ऐसे भी हैं जिन्हें 'भवविरहांक' समदर्शी आचार्य हरिभद्र की कृति है, ऐसा नहीं कहा जा सकता है। आगे हम उन्हीं कृतियों का संक्षिप्त परिचय दे रहे हैं जो निश्चित रूप से समदर्शी एवं भव-विरहांक से सूचित याकिनीसूनु हरिभद्र द्वारा प्रणीत हैं।

आगमिक व्याख्याएँ

जैसा कि हमने पूर्व में निर्देश किया है, हरिभद्र जैन आगमों की संस्कृत

में व्याख्या लिखने वाले प्रथम आचार्य हैं। आगमों की व्याख्या के सन्दर्भ में उनके निम्न ग्रन्थ उपलब्ध हैं —

(१) दशवैकालिक वृत्ति, (२) आवश्यक लघुवृत्ति, (३) अनुयोगद्वार वृत्ति, (४) नन्दी वृत्ति, (५) जीवाभिगमसूत्र लघुवृत्ति, (६) चैत्यवन्दनसूत्र वृत्ति(ललितविस्तरा) और (७) प्रज्ञापनाप्रदेश व्याख्या।

इसके अतिरिक्त आवश्यकसूत्र बृहत् वृत्ति का और पिण्डनिर्युक्ति वृत्ति के लेखक भी आचार्य हरिभद्र माने जाते हैं, किन्तु वर्तमान में आवश्यक वृत्ति अनुपलब्ध है। जो पिण्डनिर्युक्ति टीका मिलती है उसकी उत्थानिका में यह स्पष्ट उल्लेख है कि इस ग्रन्थ का प्रारम्भ तो हरिभद्र ने किया था, किन्तु वे इसे अपने जीवन-काल में पूर्ण नहीं कर पाए, उन्होंने स्थापनादोष तक की वृत्ति लिखी थी, उसके आगे किसी वीराचार्य ने लिखी।

आचार्य हरिभद्र द्वारा विरचित व्याख्या ग्रन्थों में संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है —

१. दशवैकालिक वृत्ति – यह वृत्ति शिष्यबोधिनी या बृहद्वृत्ति के नाम से भी जानी जाती है। वस्तुत: यह वृत्ति दशवैकालिक सूत्र की अपेक्षा उस पर भद्रबाहु विरचित निर्युक्ति पर है। इसमें आचार्य ने दशवैकालिक शब्द का अर्थ, ग्रन्थ के प्रारम्भ में मंगल की आवश्यकता और उसकी व्युत्पत्ति को स्पष्ट करने के साथ ही दशवैकालिक की रचना क्यों की गयी इसे स्पष्ट करते हुए शय्यंभव और उनके पुत्र मनक के पूर्ण कथानक का भी उल्लेख किया है। प्रथम अध्याय की टीका में आचार्य ने तप के प्रकारों की चर्चा करते हुए ध्यान के चारों प्रकारों का सुन्दर विवेचन प्रस्तुत किया है। इस प्रथम अध्याय की टीका में प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण आदि अनुमान के विभिन्न अवयवों एवं हेत्वाभासों की भी चर्चा के अतिरिक्त उन्होंने इसमें निक्षेप के सिद्धान्तों का भी विवेचन किया है।

दूसरे अध्ययन की वृत्ति में तीन योग, तीन करण, चार संज्ञा, पाँच इन्द्रिय, पाँच स्थावरकाय, दस प्रकार का श्रमण धर्म और १८००० शीलांगों का भी निर्देश मिलता है। साथ ही इसमें रथनेमि और राजीमती के उत्तराध्ययन में आए कथानक का भी उल्लेख है। तृतीय अध्ययन की वृत्ति में महत् और क्षुल्लक शब्द के अर्थ को स्पष्ट करने के साथ ही ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार को स्पष्ट किया गया है तथा कथाओं के चार प्रकारों को उदाहरण सहित समझाया गया है। चतुर्थ अध्ययन की वृत्ति में पञ्चमहाव्रत और रात्रिभोजन-विरमण की चर्चा के साथ-साथ जीव के स्वरूप पर भी दार्शनिक

दृष्टि से विचार किया गया है। इसमें भाष्यगत अनेक गाथाएँ भी उद्धृत की गयी हैं। इसी प्रकार पंचम अध्ययन की वृत्ति में १८ स्थाणु अर्थात् व्रत-षट्क, काय-षट्क, अकल्प्य भोजन-वर्जन, गृहभोजनवर्जन, पर्यंकवर्जन, निषिध्यावर्जन, स्नानवर्जन और शोभावर्जन का उल्लेख हुआ है। षष्ठ अध्ययन में क्षुल्लकाचार का विवेचन किया गया है। सप्तम अध्ययन की वृत्ति में भाषा की शुद्धि-अशुद्धि का विचार है। अष्टम अध्ययन की वृत्ति में आचार-प्रणिधि की प्रक्रिया एवं फल का प्रतिपादन है। नवम अध्ययन की वृत्ति में विनय के प्रकार और विनय के फल तथा अविनय से होने वाली हानियों का चित्रण किया गया है। दशम अध्ययन की वृत्ति भिक्षु के स्वरूप की चर्चा करती है। दशवैकालिक वृत्ति के अंत में आचार्य ने अपने को महत्तरा याकिनी का धर्मपुत्र कहा है।

२. आवश्यक वृत्ति – यह वृत्ति आवश्यक निर्युक्ति पर आधारित है। आचार्य हरिभद्र ने इसमें आवश्यक सूत्रों का पदानुसरण न करते हुए स्वतन्त्र रीति से निर्युक्ति-गाथाओं का विवेचन किया है। निर्युक्ति की प्रथम गाथा की व्याख्या करते हुए आचार्य ने पाँच प्रकार के ज्ञान का स्वरूप प्रतिपादित किया है। इसी प्रकार मति, श्रुत, अवधि, मनः-पर्यय और केवल की भी भेद-प्रभेदपूर्वक व्याख्या की गई है। सामायिक निर्युक्ति की व्याख्या में प्रवचन की उत्पत्ति के प्रसंग पर प्रकाश डालते हुए बताया है कि कुछ पुरुष स्वभाव से ही ऐसे होते हैं, जिन्हें वीतराग की वाणी अरुचिकर लगती है, इसमें प्रवचनों का कोई दोष नहीं है। दोष तो उन सुनने वालों का है। साथ ही सामायिक के उद्देश, निर्देश, निर्गम, क्षेत्र आदि तेईस द्वारों का विवेचन करते हुए सामायिक के निर्गम द्वार के प्रसंग में कुलकरों की उत्पत्ति, उनके पूर्वभव, आयु का वर्णन तथा नाभिकुलकर के यहाँ भगवान ऋषभदेव का जन्म, तीर्थङ्कर नाम, गोत्रकर्म बंधन के कारणों पर प्रकाश डालते हुए अन्य आख्यानों की भाँति प्राकृत में धन नामक सार्थवाह का आख्यान दिया गया है। ऋषभदेव के पारणे का उल्लेख करते हुए विस्तृत विवेचन हेतु 'वसुदेवहिंडी' का नामोल्लेख किया गया है। भगवान् महावीर के शासन में उत्पन्न चार अनुयोगों का विभाजन करने वाले आर्यरक्षित से सम्बद्ध गाथाओं का वर्णन है। चतुर्विंशतिस्तव और वंदना नामक द्वितीय और तृतीय आवश्यक का निर्युक्ति के अनुसार व्याख्यान कर प्रतिक्रमण नामक चतुर्थ आवश्यक की व्याख्या में ध्यान पर विशेष प्रकाश डाला गया है। साथ ही सात प्रकार के भयस्थानों सम्बन्धी अतिचारों की आलोचना की गाथा उद्धृत की गई है। पञ्चम आवश्यक के रूप में कायोत्सर्ग का विवरण देकर पंचविधकाय के उत्सर्ग की तथा षष्ठ आवश्यक में प्रत्याख्यान की चर्चा करते

हुए वृत्तिकार ने शिष्यहिता नामक आवश्यक टीका सम्पन्न की है। आचार्य हरिभद्र की यह वृत्ति २२,००० श्लोक प्रमाण है।

३. **अनुयोगद्वार वृत्ति** – यह टीका अनुयोगद्वार चूर्णि की शैली पर लिखी गयी है, जो कि नन्दीवृत्ति के बाद की कृति है। इसमें 'आवश्यक' शब्द का निक्षेप-पद्धति से विचार कर नामादि आवश्यकों का स्वरूप बताते हुए नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव का स्वरूप स्पष्ट किया गया है। श्रुत का निक्षेप-पद्धति से व्याख्यान किया है। स्कन्ध, उपक्रम आदि के विवेचन के बाद आनुपूर्वी को विस्तार से प्रतिपादित किया है। इसके बाद द्विनाम, त्रिनाम, चतुर्नाम, पञ्चनाम, षट्नाम, सप्तनाम, अष्टनाम, नवनाम और दशनाम का व्याख्यान किया गया है। प्रमाण का विवेचन करते हुए विविध अंगुलों के स्वरूप का वर्णन तथा समय के विवेचन में पल्योपम का विस्तार से वर्णन किया गया है। शरीर पञ्चक के पश्चात् भावप्रमाण में प्रत्यक्ष, अनुमान, औपम्य, आगम, दर्शन, चारित्र, नय और संख्या का व्याख्यान है। नय पर पुनः विचार करते हुए ज्ञाननय और क्रियानय का स्वरूप निरूपित करते हुए ज्ञान और क्रिया दोनों की एक साथ उपयोगिता को सिद्ध किया गया है।

४. **नन्दी वृत्ति** – यह वृत्ति नन्दीचूर्णि का ही रूपान्तर है। इसमें प्रायः उन्हीं विषयों के व्याख्यान हैं जो नन्दीचूर्णि में हैं। इसमें प्रारम्भ में नन्दी के शब्दार्थ, निक्षेप आदि एवं उसके बाद जिन, वीर और संघ की स्तुति की महत्ता पर प्रकाश डालते हुए तीर्थङ्करावलिका, गणधरावलिका और स्थविरावलिका का प्रतिपादन किया गया है। नन्दी वृत्ति में ज्ञान के अध्ययन की योग्यता-अयोग्यता पर विचार करते हुए लिखा है कि अयोग्य को ज्ञान-दान से वस्तुतः अकल्याण ही होता है। इसके बाद तीन प्रकार की पर्षद् का व्याख्यान, ज्ञान के भेद-प्रभेद, स्वरूप, विषय आदि का विवेचन किया गया है। केवल-ज्ञान और केवल-दर्शन के क्रमिक उपयोग आदि का प्रतिपादन करते हुए युगपद्वाद के समर्थक सिद्धसेन आदि का, क्रमिकत्व के समर्थक जिनभद्रगणि आदि का तथा अभेदवाद के समर्थक वृद्धाचार्यों का उल्लेख किया गया है। इसमें वर्णित सिद्धसेन, सिद्धसेन दिवाकर से भिन्न हैं, क्योंकि सिद्धसेन दिवाकर तृतीय मत अभेदवाद के प्रवर्तक हैं। द्वितीय मत क्रमिकत्व के समर्थक जिनभद्र आदि को सिद्धान्तवादी कहा गया है। अन्त में श्रुत के श्रवण और व्याख्यान की विधि बताते हुए आचार्य ने नन्द्यध्ययन विवरण सम्पन्न किया है।

५. **जीवाभिगमसूत्र लघुवृत्ति** – इस वृत्ति के अपरनाम के रूप में 'प्रदेशवृत्ति' का उल्लेख मिलता है। इसका ग्रन्थाग्र ११९२ गाथाएँ हैं [५६] किन्तु

वृत्ति अनुपलब्ध है। जीवाभिगमसूत्र पर आचार्य मलयगिरि कृत एकमात्र वृत्ति उपलब्ध है जिसमें अनेक ग्रन्थ और ग्रन्थकारों का नामोल्लेख भी किया गया है। उसमें हरिभद्रकृत तत्त्वार्थ-टीका का उल्लेख है, परन्तु जीवाभिगम पर उनकी किसी वृत्ति का उल्लेख नहीं है।

६. **चैत्यवन्दनसूत्र वृत्ति (ललितविस्तरा)** – चैत्यवन्दन के सूत्रों पर हरिभद्र ने ललितविस्तरा नाम से एक विस्तृत व्याख्या की रचना की है। यह कृति बौद्ध-परम्परा के ललितविस्तरा की शैली में प्राकृत मिश्रित संस्कृत में रची गयी है। यह ग्रन्थ चैत्यवन्दन के अनुष्ठान में प्रयुक्त होने वाले प्रणिपातदण्डकसूत्र (नमोत्थुणं), चैत्यस्तव (अरिहंत चेइयाणं), चतुर्विंशतिस्तव (लोगस्स..), श्रुतस्तव (पुक्खरवर..), सिद्धस्तव (सिद्धाणं-बुद्धाणं), प्रणिधानसूत्र (जय-वीयराय) आदि के विवेचन के रूप में लिखा गया है। मुख्यतः तो यह ग्रन्थ अरिहन्त परमात्मा की स्तुतिरूप ही है, परन्तु आचार्य हरिभद्र ने इसमें अरिहन्त परमात्मा के विशिष्ट गुणों का परिचय देते हुए अन्य दार्शनिक विचारधाराओं के परिप्रेक्ष्य में तर्कपूर्ण समीक्षा भी की है। इसी प्रसंग में इस ग्रन्थ में सर्वप्रथम यापनीय मान्यता के आधार पर स्त्रीमुक्ति का समर्थन किया गया है।

७. **प्रज्ञापना-प्रदेश व्याख्या** – इस टीका के प्रारम्भ में जैन-प्रवचन की महिमा के बाद मंगल की महिमा का विशेष विवेचन करते हुए आवश्यक टीका का नामोल्लेख किया गया है। भव्य और अभव्य का विवेचन करने के बाद प्रथम पद की व्याख्या में प्रज्ञापना के विषय, कर्तृत्व आदि का वर्णन किया गया है। जीव-प्रज्ञापना और अजीव-प्रज्ञापना का वर्णन करते हुए एकेन्द्रियादि जीवों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। द्वितीय पद की व्याख्या में पृथ्वीकाय, अप्काय, अग्निकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय तथा द्वीन्द्रियादि के स्थानों का वर्णन किया गया है। तृतीय पद की व्याख्या में कायाद्यल्प-बहुत्व, वेद, लेश्या, इन्द्रिय आदि दृष्टियों से जीव-विचार, लोक-सम्बन्धी अल्प-बहुत्व, आयुर्बन्ध का अल्प-बहुत्व, पुद्गलाल्प-बहुत्व, द्रव्याल्प-बहुत्व, अवगाढाल्प-बहुत्व आदि पर विचार किया गया है। चतुर्थ पद में नारकों की स्थिति तथा पञ्चम पद की व्याख्या में नारकपर्याय, अवगाह, षट्स्थानक, कर्मस्थिति और जीवपर्याय का विश्लेषण किया गया है। षष्ठ और सप्तम पद में नारक सम्बन्धी विरहकाल का वर्णन है। अष्टम पद में संज्ञा का स्वरूप बताया है। नवम पद में विविध योनियों एवं दशम पद में रत्नप्रभा आदि पृथ्वियों का चरम और अचरम की दृष्टि से विवेचन किया गया है। ग्यारहवें पद में भाषा के

स्वरूप के साथ ही स्त्री, पुरुष और नपुंसक के लक्षणों को बताया गया है। बारहवें पद में औदारिकादि शरीर के सामान्य स्वरूप का वर्णन तथा तेरहवें पद की व्याख्या में जीव और अजीव के विविध परिणामों का प्रतिपादन किया गया है। आगे के पदों की व्याख्या में कषाय, इन्द्रिय, योग, लेश्या, काय-स्थिति, अन्तक्रिया, अवगाहना, संस्थानादि क्रिया, कर्म-प्रकृति, कर्म-बन्ध, आहार-परिणाम, उपयोग, पश्यता, संज्ञा, संयम, अवधि, प्रविचार, वेदना और समुद्घात का विशेष वर्णन किया गया है। तीसवें पद में उपयोग और पश्यता की भेदरेखा स्पष्ट करते हुए साकार उपयोग के आठ प्रकार और साकार पश्यता के छ: प्रकार बताए गए हैं।

आचार्य हरिभद्र की कृतियाँ

षोडशक : इस कृति में एक-एक विषयों को लेकर १६-१६ पद्यों में आचार्य हरिभद्र ने १६ षोडशकों की रचना की है। ये १६ षोडशक इस प्रकार हैं – (१) धर्मपरीक्षाषोडशक, (२) सद्धर्मदेशनाषोडशक, (३) धर्मलक्षणषोडशक, (४) धर्मलिंगषोडशक, (५) लोकोत्तरतत्त्वप्राप्तिषोडशक, (६) जिनमंदिरनिर्माणषोडशक, (७) जिनबिम्बषोडशक, (८) प्रतिष्ठाषोडशक, (९) पूजास्वरूपषोडशक, (१०) पूजाफलषोडशक, (११) श्रुतज्ञानलिङ्गषोडशक, (१२) दीक्षाधिकारिषोडशक, (१३) गुरुविनयषोडशक, (१४) योगभेदषोडशक, (१५) ध्येयस्वरूपषोडशक, (१६) समरसषोडशक।

विंशतिविंशकाएँ : विंशतिविंशिका नामक आचार्य हरिभद्र की यह कृति २०-२० प्राकृत गाथाओं में निबद्ध है। ये विंशिकाएँ निम्नलिखित हैं –

प्रथम अधिकार विंशिका में २० विंशिकाओं के विषय का विवेचन किया गया है। द्वितीय विंशिका में लोक के अनादि स्वरूप का विवेचन है। तृतीय विंशिका में कुल, नीति और लोकधर्म का विवेचन है। चतुर्थ विंशिका का विषय चरमपरिवर्त है। पाँचवीं विंशिका में शुद्ध धर्म की उपलब्धि कैसे होती है, इसका विवेचन है। छठी विंशिका में सद्धर्म का एवं सातवीं विंशिका में दान का विवेचन है। आठवीं विंशिका में पूजा-विधान की चर्चा है। नवीं विंशिका में श्रावकधर्म, दसवीं विंशिका में श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं एवं ग्यारहवीं विंशिका में मुनिधर्म का विवेचन किया गया है। बारहवीं विंशिका शिक्षा-विंशिका है। इसमें धार्मिक जीवन के लिये योग्य शिक्षाएँ प्रस्तुत की गयी हैं। तेरहवीं विंशिका भिक्षा-विंशिका है। इसमें मुनि के भिक्षा-सम्बन्धी दोषों का विवेचन है। चौदहवीं अन्तरायशुद्धि विंशिका में भिक्षा के सन्दर्भ में

होने वाले अन्तरायों का विवेचन है। ज्ञातव्य है कि इस विंशिका में मात्र छः गाथाएँ ही मिलती हैं, शेष गाथाएँ किसी भी हस्तप्रत में नहीं मिलती हैं। पन्द्रहवीं आलोचना-विंशिका है। सोलहवीं विंशिका प्रायश्चित्त-विंशिका है। इसमें विभिन्न प्रायश्चित्तों का संक्षिप्त विवेचन है। सत्रहवीं विंशिका योगविधान-विंशिका है। इसमें योग के स्वरूप का विवेचन है। अट्ठारहवीं केवलज्ञान विंशिका में केवलज्ञान के स्वरूप का विश्लेषण है। उन्नीसवीं सिद्धविभक्ति-विंशिका में सिद्धों का स्वरूप वर्णित है। बीसवीं सिद्धसुख-विंशिका है, जिसमें सिद्धों के सुख का विवेचन है। इस प्रकार इन बीस विंशिकाओं में जैनधर्म और साधना से सम्बन्धित विविध विषयों का विवेचन है।

योगविंशिका : यह प्राकृत में निबद्ध मात्र २० गाथाओं की एक लघु रचना है। इसमें जैन-परम्परा में प्रचलित मन, वचन और काय-रूप प्रवृत्ति वाली परिभाषा के स्थान पर मोक्ष से जोड़ने वाले धर्म व्यापार को योग कहा गया है। साथ ही इसमें योग का अधिकारी कौन हो सकता है, इसकी भी चर्चा की गई है। योगविंशिका में योग के निम्न पाँच भेदों का वर्णन है – (१) स्थान, (२) उर्ण, (३) अर्थ, (४) आलम्बन, (५) अनालम्बन। योग के इन पाँच भेदों का वर्णन इससे पूर्व किसी भी जैन-ग्रन्थ में नहीं मिलता। अतः यह आचार्य की अपनी मौलिक कल्पना है। कृति के अन्त में इच्छा, प्रकृति, स्थिरता और सिद्धि – इन चार योगांगों और कृति, भक्ति, वचन और असङ्ग – इन चार अनुष्ठानों का भी वर्णन किया गया है। इसके अतिरिक्त इसमें चैत्यवन्दन की क्रिया का भी उल्लेख है।

योगशतक : यह १०१ प्राकृत गाथाओं में निबद्ध आचार्य हरिभद्र की योग सम्बन्धी रचना है। ग्रंथ के प्रारम्भ में निश्चय और व्यवहार दृष्टि से योग का स्वरूप प्रतिपादित किया गया है, उसके पश्चात् आध्यात्मिक विकास के उपायों की चर्चा की गई है। ग्रन्थ के उत्तरार्द्ध में चित्त को स्थिर करने के लिये अपनी वृत्तियों के प्रति सजग होने या उनका अवलोकन करने की बात कही गई है। अन्त में योग से प्राप्त लब्धियों की चर्चा की गई है।

योगदृष्टिसमुच्चय : योगदृष्टिसमुच्चय जैन योग की एक महत्त्वपूर्ण रचना है। आचार्य हरिभद्र ने इसे २२७ संस्कृत पद्यों में निबद्ध किया है। इसमें सर्वप्रथम योग की तीन भूमिकाओं का निर्देश है : (१) दृष्टियोग, (२) इच्छायोग और (३) सामर्थ्ययोग।

दृष्टियोग में सर्वप्रथम मित्रा, तारा, बला, दीप्रा, स्थिरा, कान्ता, प्रभा और परा – इन आठ दृष्टियों का विस्तृत वर्णन है। संसारी जीव की

अचरमावर्तकालीन अवस्था को 'ओघ-दृष्टि' और चरमावर्तकालीन अवस्था को योग-दृष्टि कहा गया है। आचार्य हरिभद्र ने इन आठ योग-दृष्टियों के प्रसंग में ही जैन-परम्परा सम्मत चौदह गुणस्थानों की भी योजना कर ली है। इसके पश्चात् उन्होंने इच्छायोग, शास्त्रयोग और सामर्थ्ययोग की चर्चा की है। ग्रन्थ के अन्त में उन्होंने योग अधिकारी के रूप में गोत्रयोगी, कुलयोगी, प्रवृत्तचक्रयोगी और सिद्धयोगी – इन चार प्रकार के योगियों का वर्णन किया है। आचार्य हरिभद्र ने इस ग्रन्थ पर १०० पद्य प्रमाण वृत्ति भी लिखी है, जो ११७५ श्लोक परिमाण है।

योगबिन्दु : हरिभद्रसूरि की यह कृति अनुष्टुप् छन्द के ५२७ संस्कृत पद्यों में निबद्ध है। इस कृति में उन्होंने जैन योग के विस्तृत विवेचन के साथ-साथ अन्य परम्परासम्मत योगों का तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक विवेचन भी किया है। इसमें योग अधिकारियों की चर्चा करते हुए उनके दो प्रकार निरूपित किये गए हैं – (१) चरमावृतवृत्ति, (२) अचरमावृत-आवृतवृत्ति। इसमें चरमावृतवृत्ति को ही मोक्ष का अधिकारी माना गया है। योग के अधिकारी अनधिकारी का निर्देश करते समय मोह में आबद्ध संसारी जीवों को 'भवाभिनन्दी' कहा है और चारित्री जीवों को योग का अधिकारी माना है। योग का प्रभाव, योग की भूमिका के रूप में पूर्वसेवा, पाँच प्रकार के अनुष्ठान, सम्यक्त्व-प्राप्ति का विवेचन, विरति, मोक्ष, आत्मा का स्वरूप, कार्य की सिद्धि में समभाव, कालादि के पाँच कारणों का बलाबल, महेश्वरवादी एवं पुरुषाद्वैतवादी के मतों का निरसन आदि के साथ ही हरिभद्र ने 'गुरु' की विस्तार से व्याख्या की है।

आध्यात्मिक विकास की पाँच भूमिकाओं में से प्रथम चार का पतञ्जली के अनुसार सम्प्रज्ञात-असम्प्रज्ञात के रूप में निर्देश, सर्वदेव नमस्कार की उदारवृत्ति के विषय में चारिसंजीवनी, न्याय गोपेन्द्र और कालातीत के मन्तव्य और कालातीत की अनुपलब्ध कृति में से सात अवतरण आदि भी इस ग्रन्थ के मुख्य प्रतिपाद्य हैं। पुनः इसमें जीव के भेदों के अन्तर्गत अपुनर्बन्धक सम्यक् दृष्टि या भिन्न ग्रंथी, देशविरति और सर्व-विरति की चर्चा की गई है। योगाधिकार प्राप्ति के सन्दर्भ में पूर्वसेवा के रूप में विविध आचार-विचारों का निरूपण किया गया है।

आध्यात्मिक विकास की चर्चा करते हुए अध्यात्म, भावना, ध्यान, समता और वृत्ति-संक्षय – इन पाँच भेदों का निर्देश किया गया है। साथ ही इनकी पातञ्जलि अनुमोदित सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात समाधि से तुलना भी

की गई है। इसमें विविध प्रकार के यौगिक अनुष्ठानों की भी चर्चा है, जो इस बात को सूचित करते हैं कि साधक योग-साधना किस उद्देश्य से कर रहा है। यौगिक अनुष्ठान पाँच हैं – (१) विषानुष्ठान, (२) गरानुष्ठान, (३) अनानुष्ठान, (४) तद्धेतु-अनुष्ठान, (५) अमृतानुष्ठान। इनमें पहले तीन 'असद् अनुष्ठान' हैं तथा अन्तिम के दो अनुष्ठान 'सदनुष्ठान' हैं।

'सद्योगचिन्तामणि' से प्रारम्भ होनेवाली इस वृत्ति का श्लोक परिमाण ३६२० है। योगबिन्दु के स्पष्टीकरण के लिये यह वृत्ति अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

षड्दर्शनसमुच्चय : षड्दर्शनसमुच्चय आचार्य हरिभद्र की लोकविश्रुत दार्शनिक रचना है। मूल कृति मात्र ८७ संस्कृत श्लोकों में निबद्ध है। इनमें आचार्य हरिभद्र ने चार्वाक, बौद्ध, न्याय-वैशेषिक, सांख्य, जैन और जैमिनि (मीमांसा दर्शन) – इन छ: दर्शनों के सिद्धान्तों का, उनकी मान्यता के अनुसार संक्षेप में विवेचन किया है। ज्ञातव्य है कि दर्शन-संग्राहक ग्रन्थों में यह एक ऐसी कृति है जो इन भिन्न-भिन्न दर्शनों को खण्डन-मण्डन से ऊपर उठकर अपने यथार्थ स्वरूप में प्रस्तुत करती है। इस कृति के सन्दर्भ में विशेष विवेचन हम हरिभद्र के व्यक्तित्व की चर्चा करते समय कर चुके हैं।

शास्त्रवार्तासमुच्चय : जहाँ षड्दर्शनसमुच्चय में विभिन्न दर्शनों का यथार्थ प्रस्तुतीकरण है, वहाँ शास्त्रवार्तासमुच्चय में विविध भारतीय दर्शनों की समीक्षा प्रस्तुत की गयी है। षड्दर्शनसमुच्चय की अपेक्षा यह एक विस्तृत कृति है। आचार्य हरिभद्र ने इसे ७०२ संस्कृत श्लोकों में निबद्ध किया है। यह कृति आठ स्तबकों में विभक्त है। प्रथम स्तबक में सामान्य उपदेश के पश्चात् चार्वाक मत की समीक्षा की गयी है। द्वितीय स्तबक में भी चार्वाक मत की समीक्षा के साथ-साथ एकान्त-स्वभाववादी आदि मतों की समीक्षा की गयी है। इस ग्रन्थ के तीसरे स्तबक में आचार्य हरिभद्र ने ईश्वर-कर्तृत्व की समीक्षा की है। चतुर्थ स्तबक में विशेष रूप से सांख्य मत का और प्रसंगान्तर से बौद्धों के विशेषवाद और क्षणिकवाद का खण्डन किया गया है। पञ्चम स्तबक बौद्धों के ही विज्ञानवाद की समीक्षा प्रस्तुत करता है। षष्ठ स्तबक में बौद्धों के क्षणिकवाद की विस्तार से समीक्षा की गयी है। सप्तम स्तबक में हरिभद्र ने वस्तु की अनन्तधर्मात्मकता और स्याद्वाद की प्रस्थापना की है। साथ ही इस स्तबक के अन्त में वेदान्त की समीक्षा भी की गयी है। अष्टम स्तबक में मोक्ष एवं मोक्ष-मार्ग का विवेचन है। इसी क्रम में इस स्तबक में प्रसंगान्तर से सर्वज्ञता के निषेधक मीमांसा-दर्शन की समीक्षा करते हुए अन्त में सर्वज्ञता को सिद्ध किया है। इसके साथ ही इस स्तबक में शब्दार्थ के स्वरूप पर भी विस्तार से चर्चा उपलब्ध

होती है। इस ग्रन्थ की विशेषता यह है कि इसमें न्याय-वैशेषिक, सांख्य, बौद्ध आदि दर्शनों की समीक्षा होते हुए भी उनके प्रस्थापकों के प्रति विशेष आदर-भाव प्रस्तुत किया गया है और उनके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों का जैन दृष्टि के साथ सुन्दर समन्वय किया गया है। इस सन्दर्भ में हम विशेष चर्चा हरिभद्र के व्यक्तित्व एवं अवदान की चर्चा के प्रसंग में कर चुके हैं, अत: यहाँ इसे हम यहीं विराम देते हैं।

अनेकान्तजयपताका : जैन दर्शन का केन्द्रीय सिद्धान्त अनेकान्तवाद है। इस सिद्धान्त के प्रस्तुतीकरण हेतु आचार्य हरिभद्र ने संस्कृत भाषा में इस ग्रन्थ की रचना की। चूँकि इस ग्रन्थ में अनेकान्तवाद को अन्य दार्शनिक सिद्धान्तों पर विजय प्राप्त करने वाला दिखाया गया है, अत: इसी आधार पर इसका नामकरण अनेकान्तजयपताका किया गया है। इस ग्रन्थ में छ: अधिकार हैं – प्रथम अधिकार में अनेकान्तदृष्टि से वस्तु के सद्-असद् स्वरूप का विवेचन किया गया है। दूसरे अधिकार में वस्तु के नित्यत्व और अनित्यत्व की समीक्षा करते हुए उसे नित्यानित्य बताया गया है। तृतीय अधिकार में वस्तु को सामान्य अथवा विशेष मानने वाले दार्शनिक मतों की समीक्षा करते हुए अन्त में वस्तु को सामान्य-विशेषात्मक सिद्ध करके अनेकान्तदृष्टि की प्रस्थापना की गयी है। इसी प्रसंग में द्रव्य, गुण और पर्याय को कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न प्रतिपादित करके अनेकान्तवाद की पुष्टि की गयी है। आगे चतुर्थ अधिकार में वस्तु के अभिलाप्य और अनभिलाप्य मतों की समीक्षा करते हुए उसे वाच्यावाच्य निरूपित किया गया है। अगले अधिकारों में बौद्धों के योगाचार दर्शन की समीक्षा एवं मुक्ति सम्बन्धी विभिन्न मान्यताओं की समीक्षा की गयी है। इस प्रकार इस कृति में अनेकान्त दृष्टि से परस्पर विरोधी मतों के मध्य समन्वय स्थापित किया गया है।

अनेकान्तवादप्रवेश : जहाँ अनेकान्तजयपताका प्रबुद्ध दार्शनिकों के समक्ष अनेकान्तवाद के गाम्भीर्य को समीक्षात्मक शैली में प्रस्तुत करने हेतु लिखी गयी है, वहाँ अनेकान्तवादप्रवेश सामान्य व्यक्ति हेतु अनेकान्तवाद को बोधगम्य बनाने के लिये लिखा गया है। यह ग्रन्थ भी संस्कृत भाषा में निबद्ध है। इसकी विषय-वस्तु अनेकान्तजयपताका के समान ही है।

न्यायप्रवेश टीका : हरिभद्र ने स्वतन्त्र दार्शनिक ग्रन्थों के प्रणयन के साथ-साथ अन्य परम्परा के दार्शनिक ग्रन्थों पर भी टीकाएँ लिखी हैं। इनमें बौद्ध दार्शनिक दिङ्नाग के न्याय-प्रवेश पर उनकी टीका बहुत ही प्रसिद्ध है। इस ग्रन्थ में न्याय-सम्बन्धी बौद्ध मन्तव्य को ही स्पष्ट किया गया है। यह ग्रन्थ

हरिभद्र की व्यापक और उदार दृष्टि का परिचय देता है। इस ग्रन्थ के माध्यम से जैन परम्परा में भी बौद्धों के न्याय-सम्बन्धी मन्तव्यों के अध्ययन की परम्परा का विकास हुआ है।

धर्मसंग्रहणी : यह हरिभद्र का दार्शनिक ग्रन्थ है। १२९६ गाथाओं में निबद्ध इस ग्रन्थ में धर्म के स्वरूप का निक्षेपों द्वारा निरूपण किया गया है। मलयगिरि द्वारा इस पर संस्कृत टीका लिखी गयी है। इसमें आत्मा के अनादि निधनत्व, अमूर्तत्व, परिणामित्व, ज्ञायक-स्वरूप, कर्तृत्व-भोक्तृत्व और सर्वज्ञ-सिद्धि का निरूपण किया गया है।

लोकतत्त्वनिर्णय : लोकतत्त्वनिर्णय में हरिभद्र ने अपनी उदार दृष्टि का परिचय दिया है। इस ग्रन्थ में जगत्-सर्जक-संचालक के रूप में माने गए की अनुचित चेष्टाओं की असभ्यता तथा लोक-स्वरूप की तात्विकता का विचार किया गया है। इसमें धर्म के मार्ग पर चलने वाले पात्र एवं अपात्र का विचार करते हुए सुपात्र को ही उपदेश देने के विधान की विवेचना की गयी है।

दर्शनसप्ततिका : इस प्रकरण में सम्यक्त्वयुक्त श्रावकधर्म का १२० गाथाओं में उपदेश संगृहीत है। इस ग्रन्थ पर श्री मानदेवसूरि की टीका है।

ब्रह्मसिद्धिसमुच्चय : आचार्य हरिभद्र द्वारा रचित इस संस्कृत ग्रन्थ के कुल ४२३ पद्य ही उपलब्ध हैं। आद्य पद में महावीर को नमस्कार कर ब्रह्मादि की प्रक्रिया, उसके अनुसार जताने की प्रतिज्ञा की है। इस ग्रन्थ में सर्वधर्मों का समन्वय किया गया है। यह ग्रन्थ अपूर्ण प्राप्त होता है।

सम्बोधप्रकरण : १५९० पद्यों की यह प्राकृत रचना बारह अधिकारों में विभक्त है। इसमें गुरु, कुगुरु, सम्यक्त्व एवं देव का स्वरूप, श्रावक धर्म और प्रतिमाएँ, व्रत, आलोचना तथा मिथ्यात्व आदि का वर्णन है। इसमें हरिभद्र के युग में जैन मुनि संघ में आये हुए चारित्रिक पतन का सजीव चित्रण है, जिसकी चर्चा हम पूर्व में कर चुके हैं।

धर्मबिन्दुप्रकरण : ५४२ सूत्रों में निबद्ध यह ग्रन्थ चार अध्यायों में विभक्त है। इसमें श्रावक और श्रमण-धर्म की विवेचना की गयी है। श्रावक बनने के पूर्व जीवन को पवित्र और निर्मल बनाने वाले मार्गानुसारी के पैंतीस गुणों की विवेचना की गयी है। इस पर मुनिचन्द्रसूरि ने टीका लिखी है।

उपदेशपद : इस ग्रन्थ में कुल १०४० गाथाएँ हैं। इस पर मुनिचन्द्रसूरि ने सुखबोधिनी टीका लिखी है। आचार्य ने धर्मकथानुयोग के माध्यम से इस कृति में मन्द बुद्धि वालों के प्रबोध के लिए जैन धर्म के उपदेशों को सरल

लौकिक कथाओं के रूप में संगृहीत किया है। मानव पर्याय की दुर्लभता एवं बुद्धि चमत्कार को प्रकट करने के लिये कई कथानकों का ग्रथन किया है। मनुष्य-जन्म की दुर्लभता को चोल्लक, पाशक, धान्य, द्यूत, रत्न, स्वपन, चक्रयूप आदि दृष्टान्तों के द्वारा प्रतिपादित किया गया है।

पंचवस्तुक (पंचवत्थुग) : आचार्य हरिभद्र की यह कृति प्राकृत भाषा में निबद्ध है। इसमें १७१४ पद्य हैं जो निम्न पाँच अधिकारों में विभक्त हैं —

१. प्रव्रज्याविधि के अन्तर्गत २२८ पद्य हैं। इसमें दीक्षासम्बन्धी विधि-विधान दिये गए हैं।

२. नित्यक्रिया सम्बन्धी अधिकार में ३८१ पद्य हैं। यह मुनिजीवन के दैनन्दिन प्रत्ययों सम्बन्धी विधि-विधान की चर्चा करता है।

३. महाव्रतारोपण विधि के अन्तर्गत ३२१ पद्य हैं। इसमें बड़ी दीक्षा अर्थात् महाव्रतारोपण विधि का विवेचन हुआ है, साथ ही इसमें स्थविरकल्प, जिनकल्प और उनसे सम्बन्धित उपाधि आदि के सम्बन्ध में भी विचार किया गया है।

चतुर्थ अधिकार में ४३४ गाथाएँ हैं। इनमें आचार्य-पद स्थापना, गण-अनुज्ञा, शिष्यों के अध्ययन आदि सम्बन्धी विधि-विधानों की चर्चा करते हुए पूजा-स्तवन आदि सम्बन्धी विधि-विधानों का निर्देश इसमें मिलता है। पञ्चम अधिकार में सल्लेखना सम्बन्धी विधान दिये गए हैं। इसमें ३५० गाथाएँ हैं।

इस कृति की ५५० श्लोक परिमाण शिष्यहिता नामक स्वोपज्ञ टीका भी मिलती है। वस्तुत: यह ग्रन्थ विशेष रूप से जैन मुनि-आचार से सम्बन्धित है और इस विधा का यह एक आकर ग्रन्थ भी कहा जा सकता है।

श्रावकप्रज्ञप्ति (सावयपण्णत्ति) : ४०५ प्राकृत गाथाओं में निबद्ध यह रचना श्रावकाचार के सम्बन्ध में आचार्य हरिभद्र की एक महत्त्वपूर्ण कृति है। ऐसा माना जाता है कि इसके पूर्व आचार्य उमास्वाति ने भी इसी नाम की एक कृति संस्कृत भाषा में निबद्ध की थी। यद्यपि अनेक ग्रन्थों में इसका उल्लेख मिलता है, परन्तु इसकी आज तक कोई प्रति उपलब्ध नहीं हुई है। नाम साम्य के कारण हरिभद्रकृत इस प्राकृत कृति (सावयपण्णत्ति) को तत्त्वार्थसूत्र के रचयिता उमास्वाति की रचना मान लिया जाता है, किन्तु यह एक भ्रान्ति ही है। पञ्चाशक की अभयदेवसूरि कृत वृत्ति में और लावण्यसूरि कृत द्रव्यसप्तति में इसे हरिभद्र की कृति माना गया है। इस कृति में सावग (श्रावक) शब्द का अर्थ, सम्यक्त्व का स्वरूप, नवतत्त्व, अष्टकर्म, श्रावक के १२ व्रत और श्रावक सामाचारी का विवेचन उपलब्ध होता है।

इस पर स्वयं आचार्य हरिभद्र की दिग्प्रदा नाम की स्वोपज्ञ संस्कृत टीका भी है। इसमें अहिंसाणुव्रत और सामायिकव्रत की चर्चा करते हुए आचार्य ने अनेक महत्त्वपूर्ण प्रश्नों का उत्तर दिया है। टीका में जीव की नित्यानित्यता आदि दार्शनिक विषयों की भी गम्भीर चर्चा उपलब्ध होती है।

जैन आचार सम्बन्धी ग्रन्थों में पञ्चवस्तुक तथा श्रावकप्रज्ञप्ति के अतिरिक्त अष्टकप्रकरण, षोडशकप्रकरण, विंशिकाएँ और पञ्चाशकप्रकरण भी आचार्य हरिभद्र की महत्त्वपूर्ण रचनाएँ हैं।

अष्टकप्रकरण : इस ग्रन्थ में ८-८ श्लोकों में रचित निम्नलिखित ३२ प्रकरण हैं –

१. महादेवाष्टक, २. स्नानाष्टक, ३. पूजाष्टक, ४. अग्निकारिकाष्टक, ५. त्रिविधभिक्षाष्टक, ६. सर्वसम्पत्करिभिक्षाष्टक, ७. प्रच्छन्नभोजाष्टक, ८. प्रत्याख्यानाष्टक, ९. ज्ञानाष्टक, १०. वैराग्याष्टक, ११. तपाष्टक, १२. वादाष्टक, १३. धर्मवादाष्टक, १४. एकान्तनित्यवादखण्डनाष्टक, १५. एकान्तक्षणिकवादखण्डनाष्टक, १६. नित्यानित्यवादपक्षमंडनाष्टक, १७. मांसभक्षणदूषणाष्टक, १८. मांसभक्षणमतदूषणाष्टक, १९. मद्यपानदूषणाष्टक, २०. मैथुनदूषणाष्टक, २१. सूक्ष्मबुद्धिपरीक्षणाष्टक, २२. भावशुद्धिविचाराष्टक, २३. जिनमतमालिन्यनिषेधाष्टक, २४. पुण्यानुबन्धिपुण्याष्टक, २५. पुण्यानुबन्धिपुण्यफलाष्टक, २६. तीर्थकृद्दानाष्टक, २७. दानशंकापरिहाराष्टक, २८. राज्यादिदानदोषपरिहाराष्टक, २९. सामायिकाष्टक, ३०. केवलज्ञानाष्टक, ३१. तीर्थंकरदेशनाष्टक, ३२. मोक्षस्वरूपाष्टक।

धूर्ताख्यान : यह एक व्यंग्यप्रधान रचना है। इसमें वैदिक पुराणों में वर्णित असम्भव और अविश्वसनीय बातों का प्रत्याख्यान पाँच धूर्तों की कथाओं के द्वारा किया गया है। लाक्षणिक शैली की यह अद्वितीय रचना है। रामायण, महाभारत और पुराणों में पाई जाने वाली कथाओं की अप्राकृतिक, अवैज्ञानिक, अबौद्धिक, मान्यताओं तथा प्रवृत्तियों का कथा के माध्यम से निराकरण किया गया है। व्यंग्य और सुझावों के माध्यम से असम्भव और मनगढ़न्त बातों को त्यागने का संकेत दिया गया है। खड्डपना के चरित्र और बौद्धिक विकास द्वारा नारी को विजय दिलाकर मध्यकालीन नारी के चरित्र को उद्घाटित किया गया है।

ध्यानशतकवृत्ति : पूर्व ऋषिप्रणीत ध्यानशतक गन्थ का गम्भीर विषय – आर्त्त, रौद्र, धर्म, शुक्ल इन चार प्रकार के ध्यानों का सुगम विवरण दिया गया है। ध्यान का यह एक अद्वितीय ग्रन्थ है।

यतिदिनकृत्य : इस ग्रन्थ में मुख्यतया साधु के दैनिक आचार एवं क्रियाओं का वर्णन किया गया है। षडावश्यक के विभिन्न आवश्यकों को साधु को अपने दैनिक जीवन में पालन करना चाहिए, इसकी विशद विवेचना इस ग्रन्थ में की गयी है।

पञ्चाशक (पंचासग) : आचार्य हरिभद्रसूरि की यह कृति जैन महाराष्ट्री प्राकृत में रचित है। इसमें उन्नीस पञ्चाशक हैं जिसमें दूसरे में ४४ और सत्तरहवें में ५२ तथा शेष में ५०-५० पद्य हैं। वीरगणि के शिष्य श्रीचन्द्रसूरि के शिष्य यशोदेव ने पहले पञ्चाशक पर जैन महाराष्ट्री में वि.सं० ११७२ में एक चूर्णि लिखी थी, जिसमें प्रारम्भ में तीन पद्य और अन्त में प्रशस्ति के चार पद्य हैं, शेष ग्रन्थ गद्य में है। इसमें सम्यक्त्व के प्रकार, उसके यतना, अभियोग और दृष्टान्त के साथ-साथ मनुष्य भव की दुर्लभता आदि अन्यान्य विषयों का निरूपण किया गया है। सामाचारी विषय का अनेक बार उल्लेख हुआ है। मण्डनात्मक शैली में रचित होने के कारण इसमें 'तुलादण्ड न्याय' का उल्लेख भी है। आवश्यक चूर्णि के देशविरति में जिस तरह नवपयपयरण में नौ द्वारों का प्रतिपादन है, उसी प्रकार यहाँ पर भी नौ द्वारों का उल्लेख है।

पंचाशकों में जैन आचार और विधि-विधान के सम्बन्ध में अनेक गम्भीर प्रश्नों को उपस्थित करके उनके समाधान प्रस्तुत किये गये हैं। निम्न उन्नीस पञ्चाशक उपलब्ध होते हैं –

१. श्रावकधर्मविधि, २. जिनदीक्षाविधि, ३. चैत्यवन्दनविधि, ४. पूजाविधि, ५. प्रत्याख्यानविधि, ६. स्तवनविधि, ७. जिनभवननिर्माणविधि, ८. जिनबिम्बप्रतिष्ठाविधि, ९. यात्राविधि, १०. उपासकप्रतिमाविधि, ११. साधुधर्मविधि, १२. साधुसामाचारी विधि, १३. पिण्डविधानविधि, १४. शीलाङ्गविधानविधि, १५. आलोचनाविधि, १६. प्रायश्चित्तविधि, १७. कल्पविधि, १८. भिक्षुप्रतिमाकल्पविधि, १९. तपविधि।

उपरोक्त पञ्चाशक अपने-अपने विषय को गम्भीरता से किन्तु संक्षेप में प्रस्तुत करते हैं। इन सभी पञ्चाशकों का मूल प्रतिपाद्य श्रावक एवं मुनि आचार से सम्बन्धित है और यह स्पष्ट करते हैं कि जैन परम्परा में श्रावक और मुनि के लिए करणीय विधि-विधानों का स्वरूप उस युग में कैसा था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य हरिभद्र बहुआयामी व्यक्तित्व के धनी एक विशिष्ट प्रतिभासम्पन्न आचार्य रहे हैं। उनके द्वारा की गई साहित्य सेवा न केवल जैन साहित्य अपितु सम्पूर्ण भारतीय वाङ्मय में अपना विशिष्ट

स्थान रखती है। हरिभद्र ने जो उदात्त दृष्टि, असाम्प्रदायिक वृत्ति और निर्भयता अपनी कृतियों में प्रदर्शित की है, वैसी उनके पूर्ववर्ती अथवा उत्तरवर्ती किसी भी जैन-जैनेतर विद्वान् ने शायद ही प्रदर्शित की हो। उन्होंने अन्य दर्शनों के विवेचन की एक स्वस्थ परम्परा स्थापित की तथा दार्शनिक और योग-परम्परा में विचार एवं वर्तन की जो अभिनव दशा उद्घाटित की वह विशेषकर आज के युग के असाम्प्रदायिक एवं तुलनात्मक ऐतिहासिक अध्ययन के क्षेत्र में अधिक व्यवहार्य है।

श्रावकधर्मविधि प्रकरण –

प्रस्तुत कृति में आचार्य हरिभद्र ने श्रावक शब्द के व्युत्पत्तिपरक अर्थ को स्पष्ट करते हुए जिनवाणी का श्रवण करने वाले को श्रावक कहा है। किन्तु यही पर्याप्त नहीं है, उनकी दृष्टि में श्रावक होने के लिए कुछ योग्यताएँ भी अपेक्षित हैं। उन्होंने इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए कहा है कि जो श्रावक धर्म का अधिकारी है अर्थात् श्रावक होने की पात्रता रखता है उसके द्वारा ही श्रावक धर्म का आचरण सम्भव है। अनधिकारी या अपात्र व्यक्ति के द्वारा किया गया श्रावक धर्म का परिपालन भी जिनेश्वरदेव की आज्ञाभंग के दोष से दूषित होने के कारण अधर्म ही बन जाता है। आचार्य हरिभद्र की दृष्टि में श्रावक धर्म का अधिकारी या पात्र वही व्यक्ति हो सकता है जो दूसरों से भयभीत नहीं होता है, क्योंकि धार्मिक चेतना का विकास निर्भय मानसिकता में ही सम्भव है। पुनः आचार्य कहते हैं कि श्रावक धर्म का पालन कोई भी व्यक्ति अपनी कुल परम्परा से प्राप्त शुद्ध आजीविका का अर्जन करते हुए कर सकता है। श्रावक धर्म की पात्रता के लक्षणों की चर्चा करते हुए वे यह बताते हैं कि धर्म के प्रति प्रीति रखना, न तो किसी की निन्दा करना और न निंदा सुनना, अपितु निंदकों पर भी करुणा रखना श्रवक धर्म की आराधना के लिए आवश्यक है। हरिभद्र की दृष्टि में जिज्ञासुवृत्ति और चित्त की एकाग्रता भी धर्म साधना के अन्य मुख्य अंग हैं। इसी प्रकार नियत समय पर चैत्यवंदन (देव-वंदन)गुरु की विनय, उचित आसन पर बैठकर धर्मश्रवण, स्वाध्याय में सतत उपयोग- ये सभी श्रावक धर्म के आचरण के लिए आवश्यक हैं। आगे आचार्य हरिभद्र श्रावक-आचार की विशिष्टता बताते हुए कहते हैं कि अपने सदाचरण से सभी का प्रिय होना, अनिंदित कर्म से आजीविका उपार्जन करना, आपत्ति में धैर्य रखना, यथाशक्ति तप, त्याग और धर्म का आचरण करना, यही श्रावक के मुख्य लक्षण हैं। उपर्युक्त गुणों से युक्त होने पर ही गृहस्थ धर्म का परिपालन संभव होता है, इन गुणों के अभाव में जिन-आज्ञा की विराधना होती है और श्रावक धर्म के परिपालन की पात्रता ही समाप्त हो जाती है।

गृहस्थ धर्म के अधिकारी के लक्षणों की चर्चा के उपरान्त आचार्य हरिभद्र ने प्रस्तुत कृति में इस बात पर अधिक बल दिया है कि पञ्च अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत रूपी श्रावक धर्म का मूल आधार सम्यक्त्व है। प्रस्तुत कृति में आचार्य ने सम्यक्त्व के सन्दर्भ में विस्तृत विवेचना प्रस्तुत की है। सर्वप्रथम उन्होंने सम्यक्त्व के क्षायिक, औपशमिक और क्षायोपशमिक – ऐसे तीन प्रकारों की चर्चा की है। इसी प्रसंग में उन्होंने यह भी बताया है कि जो न स्वयं मिथ्यात्व का सेवन करता है और न करवाता है और न करने वाले का अनुमोदन करता है वही सम्यक्त्व का अधिकारी होता है। मिथ्यात्व के अनेकरूपों की चर्चा करते हुए आचार्य ने सर्वप्रथम मुक्ति के निमित्त सरागी लौकिक देवताओं की उपासना को मिथ्यात्व प्रतिपादित किया है। इन लौकिक देवों की पुष्पमाला आदि से पूजा करना, वस्त्रादि से उनका सत्कार करना तथा मानसिक रूप से उनके प्रति प्रीति भाव रखना – हरिभद्र की दृष्टि में ये सभी मिथ्यात्व के लक्षण हैं। इसी प्रकार उन्होंने वीतराग लोकोत्तमदेव के लक्षण को लौकिक देवों पर घटित करना भी मिथ्यात्व माना है। उनकी दृष्टि में शुद्ध धर्माचरण से विमुख तापस, शाक्यपुत्रीय श्रमण आदि अन्य तैर्थिकों से संसर्ग रखना, उनकी प्रशंसा करना और उनके आदेशों का पालन करना भी मिथ्यात्व के लक्षण हैं। मात्र यही नहीं आचार्य ने स्पष्ट रूप से जैन मुनि के वेश को धारण करने वाले, किन्तु जिन-आज्ञा का सम्यक् रूप से पालन नहीं करने वाले पार्श्वस्थ आदि जैनाभासों के वंदन, पूजन को भी मिथ्यात्व ही माना है। इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए उन्होंने शिथिलाचारी, खिन्न मन से मुनि जीवन जीने वाले, आचारहीन, नित्य एक स्थान पर रहने वाले, निमित्त आदि विद्याओं के द्वारा लोकरंजन करने वाले, स्वेच्छाचारी जैन श्रमणों को भी वंदनीय नहीं माना है उनकी दृष्टि में ऐसे जैन श्रमणों के वंदन आदि से भी मिथ्यात्व की ही अभिवृद्धि होती है। आचार्य के अनुसार ऐसे साधुओं का संसर्ग भी सम्यक्त्व का नाशक माना गया है। इसी क्रम में स्वेच्छाचारी को परिभाषित करते हुए उन्होंने बताया है कि जो आगम विरुद्ध आचरण करता है और जिन वचनों की आगम विरुद्ध मनमाने ढंग से व्याख्याएँ करता है, वह स्वेच्छाचारी है। साथ ही ऐसा तथाकथित श्रमण ऋद्धि-गौरव, सुख-गौरव और रस-गौरव में डूबा रहता है। मात्र यही नहीं, वह चैत्यादि के निर्माण में और उनके निमित्त से धन-धान्य की वृद्धि करने हेतु कुओं, बगीचा आदि बनवाने में प्रवृत्त रहता है तथा श्रावकों पर मनमाने ढंग से कर आदि लगाकर सम्पत्ति एकत्र करता है। इस प्रकार आगम विरुद्ध आचरण करने वाले, जिन-वचन की मनमाने ढंग से अन्यथा व्याख्या करने वाले स्वच्छन्द मुनियों के उपाश्रय आदि में जाकर धर्म श्रवण आदि क्रियाएँ

भी हरिभद्र की दृष्टि में मिथ्यात्व का ही कारण हैं। श्रद्धावान श्रावक ऐसे स्वेच्छाचारी मुनियों के सम्पर्क में आकर निश्चित ही अपने सम्यक्त्व को दूषित करता है। सुविहितों और स्वेच्छाचारियों के उपदेशों में विसंवाद होने के कारण उसके मन में संदेह उत्पन्न होता है। प्रस्तुत कृति में आचार्य हरिभद्र तो यहाँ तक कहते हैं कि ऐसे स्वेच्छाचारी मुनियों के चैत्य, उपाश्रय आदि स्थान भी मिथ्यात्व के हेतु होने से अधर्मायतन ही हैं। श्रावक को इन साधुओं के सम्पर्क आदि को भी मिथ्यात्व का जनक जानकर त्याग करना चाहिए। इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य हरिभद्र ने न केवल छद्मवेशी मतावलम्बी तापसों आदि के सम्पर्क, सत्कार, स्तुति आदि को मिथ्यात्व का कारण माना, अपितु उन जैन मुनियों के जो आगम विरुद्ध आचरण करते हैं, के सम्पर्क, सत्कार, सम्मान आदि को भी मिथ्यात्व का कारण माना है और सद्गृहस्थ को उनसे दूर रहने का ही निर्देश दिया है।

आचार्य हरिभद्र श्रावक धर्म के आधारभूत तत्त्व सम्यक्-दर्शन की इस व्याख्या के प्रसंग में स्पष्ट रूप से कहते हैं कि यदि स्वयं इन शिथिलाचारियों के उपदेश का प्रतिषेध करने में असमर्थ हो तो, उनके उपदेश सुनने की अपेक्षा अपने कानों को बन्द कर लेना ही अच्छा है। इस प्रकार उन्होंने गृहस्थ साधकों को स्पष्ट रूप से यह निर्देश दिया है कि मनसा, वाचा और कर्मणा न तो मिथ्यात्व का सेवन करे, न कराये और न मिथ्यात्व का सेवन करने वाले का अनुमोदन करे। आचार्य अनुमोदन की सूक्ष्मता से चर्चा करते हुए यहाँ तक कहते हैं कि मिथ्यादृष्टियों के मध्य में निवास करना, उनके साथ खान-पान करना और उनके विचारों का प्रतिश्रवण करना भी उस स्थिति में मिथ्यात्व का अनुमोदन हो जाता है जब उससे सम्यक्त्व के दूषित होने की सम्भावना हो, यद्यपि इस चर्चा के प्रसंग में हरिभद्र यह अवश्य स्वीकार करते हैं कि मात्र साथ रहने अथवा खान-पान आदि साथ-साथ करने से मिथ्यात्व का अनुमोदन नहीं हो जाता है। आचार्य की दृष्टि में इन परिस्थितियों में मिथ्यात्व का अनुमोदन तभी होता है, जब व्यक्ति स्वयं उनमें सम्मिलित होकर उन्हें अच्छा समझने लगता है। मात्र परस्पर एक दूसरे के साथ रहने आदि से ही किसी को एक दूसरे का समर्थक नहीं माना जा सकता है। नगर में राजा, अमात्य, श्रेष्ठी, कलाजीवी, वणिक्, मालाकार, स्वर्णकार एवं सेवकजन सब साथ-साथ रहते हैं,फिर भी उन्हें एक दूसरे का समर्थक नहीं कहा जाता है। वस्तुतः संवास या परस्पर भोग-उपभोग में अनुमति सम्भव नहीं है। आचार्य तर्क देते हैं कि यदि यह हो तो फिर सम्यक्त्व में भी उन सबकी अनुमति माननी होगी। पुनः ऐसी स्थिति में अभव्यजनों का

भी सम्यक्त्व में अनुमोदन मानना होगा, जिसे जैन परम्परा स्वयं स्वीकार नहीं करती है। अन्त में आचार्य हरिभद्र कहते हैं कि सम्यक्त्व के साधक श्रावक को मिथ्यात्व से विरत होकर गुरु के समीप जाकर वीतराग अरहन्त परमात्मा मेरे देव अर्थात् आराध्य हैं, अहिंसा आदि पाँच महाव्रतों का परिपालन करने वाले साधु ही मेरे गुरु हैं और अहिंसा ही धर्म है – ऐसी प्रतिपत्ति स्वीकार करनी चाहिए। सम्यक्त्व की चर्चा के प्रसंग में आचार्य हरिभद्र ने आठ दर्शनाचारों का उल्लेख भी किया है।

प्रस्तुत कृति में आचार्य ने न केवल आठ दर्शनाचारों का उल्लेख किया है, अपितु उनकी विस्तृत विवेचना भी की है और इस प्रसंग में उन्होंने जैनधर्मदर्शन के अनेक महत्वपूर्ण प्रसंगों को उठाया भी है। निश्शंकितत्व की चर्चा करते हुए पूर्व पक्ष के रूप में ये प्रश्न उठाते हैं कि जीवों के उपयोग लक्षण समान हैं फिर भी एक को भव्य और दूसरे को अभव्य कैसे माना जा सकता है? अथवा एक परमाणु-पूरित प्रदेश (क्षेत्र) में दूसरे परमाणु अवगाहन कैसे कर सकते हैं और उसी प्रदेश में सर्वव्यापी होकर कैसे रहते हैं? क्योंकि परमाणु से सूक्ष्म तो कुछ होता ही नहीं है और प्रत्येक परमाणु एक आकाश प्रदेश का अवगाहन करके रहता है अतः एक ही आकाश प्रदेश में अनेक परमाणु सर्वव्यापी कैसे रह सकते हैं?हरिभद्र की दृष्टि में एक देश विषयक अर्थात् आंशिक शंकाए हैं। इसी क्रम में गणिपिटक (जैन आगम) सामान्य पुरुषों के द्वारा रचित है अथवा असर्वज्ञ के द्वारा रचित है? ऐसी शंका करना सर्व विषयक सर्वांश शंका है क्योंकि इससे सम्यक्त्व का आधार ही समाप्त हो जाता है। इसी प्रकार निराकांक्षा की चर्चा करते हुए बताया गया है कि कर्मों का फल मिलेगा या न मिलेगा, इस प्रकार का विचार करना आकांक्षा है। इसी प्रसंग में आचार्य ने यह भी कहा है, स्वधर्म का त्याग कर दूसरे धर्म दर्शनों की इच्छा करना भी आकांक्षा का ही रूप है। किसी अन्य धर्म की आकांक्षा करना एक देश अर्थात् आंशिक आकांक्षा है। इससे भिन्न सभी मतों की आकांक्षा करना या यह मानना कि वे सभी धर्म या दर्शन मोक्ष की ओर ही ले जाते हैं, सर्व विषयक आकांक्षा है। यहाँ आचार्य ने शंका के प्रसंग में 'पेयगाई' और आकांक्षा के प्रसंग में 'राजा और आमात्य' की कथा का निर्देश दिया है। यद्यपि प्रस्तुत कृति में हमें कहीं भी ऐसे संकेत उपलब्ध नहीं होते हैं, जिससे यह कथा क्या है, इसका विवेचन कर सकें।

इसी क्रम में निर्विचिकित्सा अंग की चर्चा करते हुए कहा गया है कि वि-चिकित्सा अर्थात् घृणा भी दो प्रकार की मानी गई है, एक देश विषयक

और दूसरी सर्व विषयक। वि-चिकित्सा को स्पष्ट करते हुए आचार्य ने कहा है कि चैत्यवंदन व्रतपालन आदि अनुष्ठान सफल होंगे या निष्फल होंगे अथवा इनका फल मिलेगा या नहीं? ऐसी कुशंका को विचिकित्सा कहा जाता है। किन्तु सामान्यतया विचिकित्सा का तात्पर्य जैन साधु के मलिन शरीर या वस्त्रादि को देखकर घृणा करना । पूर्व में स्वयं आचार्य हरिभद्र ने विचिकित्सा के इसी अर्थ का निर्देश किया है किन्तु प्रस्तुत प्रसंग में उन्होंने विचिकित्सा का एक नया अर्थ दिया है। विचिकित्सा के सन्दर्भ में आचार्य ने श्रद्धाहीनश्रावक और विद्या की साधना करने वाले चोर का उदाहरण तथा प्रत्यन्तवासी श्रावक पुत्री की कथा का निर्देश भी किया है।

अमूढ़दृष्टि दर्शनाचार का प्रतिपादन करते हुए उन्होंने बताया है कि बौद्ध आदि इतर धर्मालम्बियों की विभिन्न प्रकार की साधना विधियों के प्रति आकर्षित नहीं होना एवं उनके पूजा, सत्कार आदि को देखकर भ्रान्त नहीं होना ही अमूढ़दृष्टि है। विशिष्ट तप करने वाले, वृद्ध, ग्लान, रोगी, शैक्ष आदि की सेवा शुश्रूषा करने वाले विनयवान एवं स्वाध्यायी मुनियों की प्रशंसा करना उपबृंहण है। इसी प्रकार धर्ममार्ग से च्युत होते हुए व्यक्तियों को पुनः धर्ममार्ग में स्थिर करना स्थिरीकरण है। वस्तुतः यह धर्मसाधना के क्षेत्र में खिन्न हुए व्यक्तियों को प्रोत्साहित कर उन्हें साधना में प्रतिष्ठित करना है। स्वधर्मीवात्सल्य को स्पष्ट करते हुए आचार्य हरिभद्र कहते हैं कि स्वधर्मी जनों के प्रति वात्सल्य या अनुराग रखना, कष्ट के समय उनकी सहायता करना स्वधर्मीवात्सल्य है। आचार्य ने अमूढदृष्टि के प्रसंग में सुलसा श्राविका की, उपबृंहण के संदर्भ में राजा श्रेणिक की, स्थिरीकरण के प्रसंग में आषाढ़ाचार्य और वात्सल्य के प्रसंग में वज्रस्वामी की कथाओं का निर्देश किया है।

अन्तिम प्रभावना अंग की चर्चा करते हुए वे कहते हैं कि विभिन्न प्रकार की लब्धियों (ऋद्धियों), विविध प्रकार की विद्याओं (तन्त्र-मन्त्र आदि), अष्टांगज्योतिष निमित्तशास्त्र आदि में पारंगत होकर उनके माध्यम से जिनशासन की प्रभावना करना सम्यक्-दर्शन का प्रभावना अंग है।

आचार्य ने यहाँ यह भी बताया है कि सम्यक्त्व का बोध होने पर भी व्रत प्रतिपत्ति अर्थात् अणुव्रतों आदि को ग्रहण करने की भावना वैकल्पिक हो सकती है, किन्तु ऐसे व्यक्ति को भी सेवा एवं स्वाध्याय आदि तो नियम से करना ही चाहिए। आचार्य यह भी मानते हैं कि एक बार सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाने पर संसार समुद्र को पार करने के लिए नौका के समान व्रत आदि भी कालान्तर में अवश्य ही प्राप्त होते हैं। सम्यक्त्व की चर्चा के उपरान्त प्रस्तुत

कृति में पाँच अणुव्रतों, तीन गुणव्रतों और चार शिक्षाव्रतों की चर्चा की गई है। इस सन्दर्भ में आचार्य हरिभद्र ने तत्त्वार्थसूत्र का अनुसरण न करके उपासकदशा के क्रम का अनुकरण किया है। मात्र अन्तर यह है कि यहाँ उपासकदशा में अणुव्रत एवं शिक्षाव्रत ऐसा द्विविध वर्गीकरण है, वहाँ आचार्य हरिभद्र ने कालान्तर में विकसित अणुव्रत, गुणव्रत एवं शिक्षाव्रत ऐसा त्रिविध वर्गीकरण किया है। श्रावक के व्रतों की इस चर्चा के प्रसंग में प्रस्तुत कृति में आचार्य हरिभद्र ने श्रावक को किस व्रत का परिपालन, कितने योगों और कितने करणों से करना होता है, इसकी विस्तृत चर्चा की है। आचार्य हरिभद्र ने करण और योग के सन्दर्भ में कुल भंगों की संख्या ४९ मानी है, उसको भी अतीत, अनागत और वर्तमान के साथ गुणित करने पर कुल १४७ भंग माने हैं और यह भी बताया है कि भरतक्षेत्र के मध्यखण्ड के बाहर अनुमतिनिषेध के तीन भंग कम करने पर स्वयं के विषय में १४४ भंग होते हैं। यहाँ यह भी चर्चा की गई है कि भरतक्षेत्र के बाहर श्रावकों के भी सर्वव्रत साधु के समान ही तीनकरण और तीनयोग से ही होते हैं। ज्ञातव्य है कि योग (साधन) तीन हैं – १. मन, २. वचन और ३. काया। इनके संयोग से कुल सात भंग (विकल्प) होते हैं। यथा – १. मन, २. वचन, ३.काया, ४.मन और वचन , ५. मन और काया, ६. वचन और काया तथा ७. मन, वचन और काया। इसी प्रकार करण भी तीन हैं – १. करना, २. कराना और ३. अनुमोदन। इनके भी सांयोगिक भंग सात ही होंगे यथा – १. करना, २. कराना, ३. अनुमोदन, ४. करना और कराना, ५. करना और अनुमोदन करना, ६. कराना और अनुमोदन करना तथा ७. करना, कराना एवं अनुमोदन करना। इस प्रकार सात योग और सात करण को परस्पर गुणित करने पर उनपचास (७ × ७ = ४९) भंग होते हैं। ये उनपचास भंग भी तीन करणों की अपेक्षा से एक सौ सेंतालीस (४९ × ३ = १४७) भंग हो जाते हैं।

इस चर्चा के पश्चात् प्रस्तुत कृति में आचार्य ने श्रावक के बारह व्रतों और उनके प्रत्येक के अतिचारों की विस्तृत चर्चा की है। आचार्य हरिभद्र ने भी सामान्यतया तो उन्हीं अतिचारों की चर्चा की है जो अन्य ग्रन्थों में भी वर्णित हैं। हरिभद्र के द्वारा वर्णित अतिचारों की यह सूची उपासकदशा से बहुत कुछ मिलती है। किन्तु कुछ अवधारणाओं को लेकर हरिभद्र का मतवैभिन्य भी दृष्टिगत होता है। उदाहरण के रूप में जहाँ छठे दिग्व्रत की चर्चा में जहाँ अन्य आचार्यों ने दूसरे गुणव्रतों के समान इन गुणव्रतों को भी आजीवन के लिए ग्राह्य माना है वहाँ आचार्य हरिभद्र ने दिग्व्रत का नियम चातुर्मास या उससे

कुछ अधिक महीनों के लिए ही बताया है। आश्चर्य यह भी है कि उन्होंने दिग्व्रत के सर्वमान्य अतिचारों यथा – ऊर्ध्व, अधो एवं तिर्यक् दिशा की मर्यादा का अतिक्रमण आदि की चर्चा के साथ ही साथ निर्धारित क्षेत्र के बाहर आनयन और प्रेषण को भी दिग्व्रत का अतिचार माना है। सामान्यतया इनकी चर्चा देशावकाशिक नामक शिक्षाव्रत में की जाती है। शेष गुणव्रतों की चर्चा में कोई विशिष्ट अन्तर नहीं देखा जाता है। चार शिक्षाव्रतों का विवेचन भी उन्होंने उपासकदशा की परम्परा के अनुसार ही किया है। अणुव्रतों, गुणव्रतों और शिक्षाव्रतों के प्रसंग में उन्होंने स्पष्ट रूप से यह प्रतिपादित किया है कि जहाँ पाँच अणुव्रत और तीन गुणव्रत आजीवन के लिए ग्रहण किए जाते हैं वहाँ शिक्षाव्रत निश्चित समय के अथवा दिनों के लिए ही ग्रहण किए जाते हैं। श्रावक के १२ व्रतों की इस चर्चा के पश्चात् उन्होंने संलेखना का उल्लेख तो किया है किन्तु उसे श्रावक का आवश्यक कर्त्तव्य नहीं माना है।

ग्रन्थ के अन्त में उन्होंने श्रावक के ऐसे कुछ विशिष्ट कर्त्तव्यों की भी चर्चा की है, जिन पर सम्यक्त्व एवं बारह व्रतों की चर्चा के प्रसंग में कोई विचार नहीं किया गया है। इन विशिष्ट कर्त्तव्यों की चर्चा करते हुए आचार्य हरिभद्र कहते हैं कि श्रावक को उसी नगर में निवास करना चाहिए जहाँ जिन मन्दिर हो, साधुओं का आगमन होता हो और श्रावकों का निवास हो। इसी क्रम में श्रावक के नित्य कर्त्तव्यों की चर्चा करते हुए वे लिखते हैं कि श्रावक को निद्रा से जागृत होते ही नमस्कार मंत्र का पाठ करना चाहिए और व्रतधारी श्रावक के लिए आचरणीय व्रतों का चिन्तन करना चाहिए। फिर जिन मन्दिर में जाकर जिनप्रतिमा की पूजा-अर्चना कर चैत्यवंदन करना चाहिए। उसके पश्चात् गुरु के समीप जाकर उनकी उचित सेवा शुश्रूषा करना चाहिए और उनके उपदेश को सुनकर यथाशक्ति त्याग, प्रत्याख्यान करना चाहिए। फिर अपना व्यवसाय एवं भोजन आदि करना चाहिए। संध्या के समय भी चैत्यवंदन और गुरुजनों का वंदन करना चाहिए। जीवन की संध्या बेला में पुत्र को अपने स्थान पर स्थापित करके विशेष रूप से धर्म-साधना करनी चाहिए ताकि जीवन के अन्त में भवविरह अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति हो सके। बस 'भवविरह' इस अन्तिम निर्देश के साथ प्रस्तुत कृति समाप्त होती है। कृति के अन्त में 'भवविरह' का निर्देश होने से यह भी सुनिश्चित हो जाता है कि प्रस्तुत कृति याकिनीसूनु आचार्य हरिभद्र की ही कृति है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य हरिभद्र ने अपने तीन ग्रन्थों श्रावकधर्मपंचाशक, श्रावकप्रज्ञप्ति (सावयपन्नति) तथा प्रस्तुत कृति

श्रावकधर्मविधिप्रकरण में श्रावक धर्म का विवेचन किया है। जहाँ एक ओर श्रावकधर्मपंचाशक मात्र ५० गाथाओं की संक्षिप्त कृति हैं, वहीं दूसरी ओर श्रावकप्रज्ञप्ति लगभग ४०० गाथाओं में रचित एक विस्तृत ग्रन्थ है। इसके विपरीत श्रावकधर्मविधि प्रकरण १२० गाथाओं में रचित एक मध्यम आकार की कृति है। इस कृति का वैशिष्ट्य यही है कि इसमें जहाँ श्रावक के व्रतों की चर्चा के साथ-साथ सम्यक्त्व की चर्चा पर्याप्त विस्तार से की गई है।

जहाँ तक मेरी जानकारी है अभी तक इस ग्रन्थ का कोई भी अनुवाद उपलब्ध नहीं था। प्राकृत भारती अकादमी ने इस ग्रन्थ का हिन्दी व अंग्रेजी अनुवाद करवाकर उसे प्रकाशित करने का एक महत्वपूर्ण कार्य किया है। पार्श्वनाथ विद्यापीठ और प्राकृत भारती अकादमी ने मिलकर आचार्य हरिभद्र के विभिन्न ग्रन्थों की अनुवाद सहित प्रकाशन की जो योजना बनाई है वह सफल हो और मध्ययुग के इस उदारचेता समदर्शी महर्षि आचार्य हरिभद्र की कृतियों से जन-जन लाभान्वित हो यही एक मात्र अपेक्षा है। अन्त में मैं प्राकृत भारती के निदेशक **महोपाध्याय विनयसागरजी** के प्रति आभार प्रकट करता हूँ कि उन्होंने प्रस्तुत कृति की भूमिका के लिए न केवल मुझे आग्रह किया अपितु मेरी व्यक्तिगत व्यस्तताओं के कारण दीर्घकाल तक इसकी प्रतीक्षा भी की। प्रस्तुत कृति के अनुवाद में अपेक्षित परिष्कार एवं संशोधन मैंने अपनी अल्पमति के अनुसार करने का प्रयत्न किया है। फिर भी भूलें रह जाना संभव है, अतः विद्वानों से अनुरोध है कि वे अपने सुझावों से हमें लाभान्वित करें ताकि भविष्य में और भी अपेक्षित परिमार्जन किया जा सके।

डॉ० सागरमल जैन
भूतपूर्व निदेशक
पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी

भूमिकागत टिप्पणियाँ

१. आवश्यक टीका की अन्तिम प्रशस्ति में उन्होंने लिखा है - "समाप्ता चेयं शिष्यहिता नाम आवश्यकटीका। कृतिः सिताम्बराचार्यजिनभटनिगदानुसारिणो विद्याधरकुलतिलकाचार्य-जिनदत्तशिष्यस्य धर्मतो याकिनीमहत्तरासूनोरल्पमतेराचार्य हरिभद्रस्य।

२. जाइणिमयहरिआए रइया एएउ धम्मपुत्तेण।
हरिभद्दायरिएणं भवविरहं इच्छमाणेण ॥

— उपदेशपद की अन्तिम प्रशस्ति

३. चिरं जीवउ भवविरहसूरि त्ति। कहावली, पत्र ३०१अ

४. समदर्शी आचार्य हरिभद्र, पं० सुखलालजी, पृ० ४० ।

५. षड्दर्शनसमुच्चय, सम्पादक डॉ० महेन्द्रकुमार, प्रस्तावना, पृ० १४ ।

६. षड्दर्शनसमुच्चय, सम्पादक डॉ० महेन्द्रकुमार, प्रस्तावना, पृ० १९ ।

७. समदर्शी आचार्य हरिभद्र, पृ० ४३ ।

८. समदर्शी आचार्य हरिभद्र, पृ० ४७ ।

९. षड्दर्शनसमुच्चय : सम्पादक डॉ० महेन्द्रकुमार, प्रस्तावना, पृ० १९ ।

१०. वही, पृ० १९ ।

११. कर्मणो भौतिकत्वेन यद्वैतदपि साम्प्रतम् ।
आत्मनो व्यतिरिक्तं तत् चित्रभावं यतो मतम् ॥
शक्तिरूपं तदन्ये तु सूरयः सम्प्रचक्षते ।
अन्ये तु वासनारूपं विचित्रफलदं मतम्॥

— शास्त्रवार्तासमुच्चय, ९५-९६

१२. समदर्शी आचार्य हरिभद्र, पृ० ५३-५४ ।

१३. वही, पृ० ५५ ।

१४. ततश्चेश्वरकर्तृत्ववादोऽयं युज्यते परम् ।
सम्यग्न्यायाविरोधेन यथाऽऽहुः शुद्धबुद्धतः ॥
ईश्वरः परमात्मैव तदुक्तव्रतसेवनात् ।
यतो मुक्तिस्ततस्तस्याः कर्त्ता स्याद्गुणभावतः ॥

तदनासेवनादेव यत्संसारोऽपि तत्त्वतः ।
तेन तस्यापि कर्तृत्वं कल्प्यमानं न दुष्यति ॥

— शास्त्रवार्तासमुच्चय, २०३-२०५

१५. परमैश्वर्ययुक्तत्वान्मतः आत्मैव चेश्वरः ।
स च कर्तेति निर्दोषः कर्तृवादो व्यवस्थितः ॥ वही, २०७

१६. प्रकृतिं चापि सन्न्यायात्कर्मप्रकृतिमेव हि ॥
एवं प्रकृतिवादोऽपि विज्ञेयः सत्य एव हि।
कपिलोक्तत्वतश्चैव दिव्यो हि स महामुनिः ॥

– शास्त्रवार्तासमुच्चय, २३२-२३७

१७. अन्ये त्वभिदधत्येवमेतदास्थानिवृत्तये ।
क्षणिकं सर्वमेवेति बुद्धेनोक्तं न तत्त्वतः ॥
विज्ञानमात्रमप्येवं बाह्यसंगनिवृत्तये ।
विनेयान् कांश्चिदाश्रित्य यद्वा तद्देशनाऽर्हतः॥ वही, ४६४-४६५

१८. अन्ये व्याख्यानयन्त्येवं समभावप्रसिद्धये।
अद्वैतदेशना शास्त्रे निर्दिष्टा न तु तत्त्वतः ॥ वही, ५५०

१९. ज्ञानयोगादतो मुक्तिरिति सम्यग् व्यवस्थितम्।
तन्त्रान्तरानुरोधेन गीतं चेत्थं न दोषकृत् ॥ शास्त्रवार्तासमुच्चय, ५७९

२०. यं श्रुत्वा सर्वशास्त्रेषु प्रायस्तत्त्वविनिश्चयः।
जायते द्वेषशमनः स्वर्गसिद्धिसुखावहः ॥ वही, २

२१. योगदृष्टिसमुच्चय, ८७ एवं ८८।

२२. शास्त्रवार्तासमुच्चय, २० ।

२३. योगदृष्टिसमुच्चय, ८६-१०१।

२४. योगदृष्टिसमुच्चय, १०७-१०९।

२५. चित्रा तु देशनैतेषां स्याद् विनेयानुगुण्यतः।
यस्मादेते महात्मानो भवव्याधिभिषग्वराः ॥ योगदृष्टिसमुच्चय, १३४

२६. यद्वा तत्तन्नयापेक्षा तत्कालादिनियोगतः ।
ऋषिभ्यो देशना चित्रा तन्मूलैषाऽपि तत्त्वतः ॥ योगदृष्टिसमुच्चय, १३८

२७. मग्गो मग्गो लोए भणंति, सव्वे वि मग्गणारहिया।

— सम्बोधप्रकरण, १/४ पूर्वार्ध

२८. परमप्प मग्गणा जत्थ तम्मग्गो मुक्खमग्गुत्ति ॥ वही, १/४ उत्तरार्ध

२९. जत्थ य विसय-कसायच्चागो मग्गो हविज्ज णो अण्णो। वही, १/५ पूर्वार्ध

३०. सेयम्बरो य आसम्बरो य बुद्धो य अहव अण्णो वा।
समभावभावि अप्पा लहइ मुक्खं न संदेहो॥ सम्बोधप्रकरण, १/३

३१. नामाइ चउप्पभेओ भणिओ। वही, १/५

(व्याख्या लेखक की अपनी है)

३२. तक्काइ जोय करणा खोरं पयउं घयं जहा हुज्जा। वही, १/७

३३. भावगयं तं मग्गो तस्स विसुद्धीइ हेउणो भणिया। वही, १/११ पूर्वार्द्ध

३४. तम्मि य पढमे सुद्दे सव्वाणि तयणुसाराणि। – सम्बोधप्रकरण, १/१०

३५. वही, १/९९-१०४

३६. वही, १/१०८

३७. सम्बोधप्रकरण, २/१०, १३, ३२, ३३, ३४

३८. सम्बोधप्रकरण, २/३४-३६, ४२, ४६, ४९- ५०, ५२, ५६ - ७४, ८८ - ९२

३९. वही, २/२०

४०. जह असुइ ठाणं पडिया चंपकमाला न कीरते सीसे।
पासत्थाइट्ठाणे वट्टमाणा इह अपुज्जा ॥ वही, २/२२

४१. जइ चरिउं नो सक्को सुद्धं जइलिंगमहवपूयट्ठी।
तो गिहिलिंग गिण्हे नो लिंगी पूयणारहिओ ॥ वही, १/२७५

४२. एयारिसाण दुस्सीलयाण साहुपिसायाण भत्तिपुव्वं।
जे वंदण-नमंसाइ कुव्वंति न ते महापावा? – सम्बोधप्रकरण, १/११४

४३. सुहसीलाओ सच्छंदचारिणो वेरिणो सिवपहस्स।
आणाभट्ठाओ बहुजणाओ मा भणह संवुत्ति॥
देवाइ दव्वभक्खणतप्परा तह उम्मग्गपक्खकरा।
साहुजणाणपओसं कारिणं मा भणह संघं॥
जहम्म अनीई अणायार सेविणो धम्मनीइं पडिकूला।
साहुपभिइ चउरो वि बहुया अवि मा भणह संघं॥
असंघं संघं जे भणति रागेण अहव दोसेण।
छेओ वा मुहुत्तं पच्छित्तं जायए तेसिं॥

— वही, १/११९-१२१, १२३

४४. गब्भपवेसो वि वरं भद्दवरो नरयवास वासो वि।
मा जिण आणा लोवकरे वसणं नाम संघे वि॥ वही, २।१३२

४५. सम्बोधप्रकरण, २/१०३

४६. वही, २/१०४

४७. वेसागिहेसु गमणं जहा निसिद्धं सुकुलबहुयाणं।
तह हीणायार-जइ-जण-संग सङ्घाण पडिसिद्धं॥
परं दिट्ठिविसो सप्पो वरं हलाहलं विसं।
हीणायार अगीयत्थं वयणपसंगं खु णो भद्दो॥

— सम्बोधप्रकरण, श्रावक-धर्माधिकार २,३

४८. वही, २/७७-७८

४९. बाला वयंति एवं वेसो तित्थंकराण एसोवि।
नमणिज्जो धिद्धि अहो सिरसूलं कस्स पुक्करिमो॥ सम्बोधप्रकरण, २/७६

५०. वरं वाही वरं मच्चू वरं दारिद्दसंगमो।
वरं अरण्णे वासो य मा कुसीलाणसंगमो ॥

५१. हीणायारो वि वरं मा कुसीलएण संगमो भद्दं।
जम्हा हीणो अप्पं नासइ सव्वं हु सीलनिहिं ॥ वही, २/१०१-१०२

५२. विस्तार के लिए देखें, सम्बोधप्रकरण गुरुस्वरूपाधिकार। इसमें ३७५ गाथाओं में सुगुरु का स्वरूप वर्णित है।

५३. नो अप्पणा पराया गुरुणो कइया वि हुंति सङ्घाणं।
जिणवयण रयणनिहिणो सव्वे ते वन्निया गुरुणो॥

— सम्बोधप्रकरण, गुरुस्वरूपाधिकार : ३

५४. लोकतत्त्वनिर्णय, ३२-३३

५५. योगदृष्टिसमुच्चय, १२९।

५६. देखें – जिनरत्नकोश, हरिदामोदर वेलंकर, भंडारकर ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना १९४४, पृ० १४४

श्री हरिभद्रसूरि प्रणीत

श्रावकधर्मविधिप्रकरण

ŚRĀVAKA DHARMA VIDHI PRAKARAṆAM

of Śri Haribhadra Sūri

(THE BOOK OF CODE OF CONDUCT FOR LAITY)

श्रावकधर्मविधिप्रकरणम्.

卐 卐 卐

नमिऊण वद्धमाणं, सावगधम्मं समासओ वोच्छं।
सम्मत्ताईभावत्थ - संगयं सुत्तणीईए ॥१॥

१. भगवान् वर्धमान स्वामी को नमस्कार कर आगम-नीति के अनुसार सम्यक्त्व आदि सद्गुणों से युक्त श्रावक धर्म का संक्षेप से वर्णन करूंगा।

1. After offering salutations to Vardhaman Swami (Bhagavan Mahavir) I will describe in brief the *shravak dharma* (the code of conduct for the laity) that includes *samyaktva* (the equanimous right conduct) and other virtues leading to salvation.

परलोगहियं सम्मं, जो जिणवयणं सुणेइ उवउत्तो।
अइतिव्वकम्मविगमा, सुक्कोसो सावगो एत्थ ॥२॥

२. परलोक हितकारी जिनवाणी को जो सजगता/सावधानीपूर्वक सम्यक् प्रकार से श्रवण करता है उसके अति तीव्र ज्ञानावरणीय घाती कर्मों का विनाश होने से उत्कृष्ट श्रावक कहा गया है।

2. He who properly listens, with all attention, to the word of the *Jina* (the victor) that is benefic even for the world beyond,

is said to be an accomplished *shravak* because he soon destroys the intense *karmas* including the knowledge obscuring one (*jnanavaraniya karma*).

अहिगारिणा खु धम्मो, कायव्वो अणहिगारिणो दोसो।
आणाभंगाओ च्चिय, धम्मो आणाएँ पडिबद्धो ॥३॥

३. धर्म जिन - आज्ञा मूलक है, अतः योग्य व्यक्ति को ही श्रावक धर्म पालन करने का अधिकार है। यदि अनधिकारी व्यक्ति श्रावक धर्म के पालन करने का प्रयास करता है, तो जिन - आज्ञा के भंग करने के दोष के कारण वह धर्म भी अधर्म रूप बन जाता है।

3. Religion is derived from the tenets of the *Jina*. Only an able (sincere pursuer of emancipation) person qualifies to follow the code of conduct. If a pseudo follower tries, his conduct is faulty and irreligious because it goes against the word of the *Jina*.

तत्थहिगारी अत्थी, समत्थओ जो ण सुत्तपडिकुट्ठो।
अत्थी उ जो विणिओ, समुवठिओ पुच्छमाणो य ॥४॥

४. जो श्रावक धर्म का अधिकार होने की आकांक्षा रखता है, जो सूत्र (आगम) में निषिद्ध आचार का समर्थक नहीं है और जो धर्माचारी के समक्ष उपस्थित होकर धर्म के परिपालन की इच्छा रखता है तथा जो धर्म मार्ग का जिज्ञासु है, वही श्रावक धर्म का अधिकारी है।

4. Only that *shravak* is deserving of this conduct who refrains from accepting anything against the *Agam*s (tenets of the *Tirthankar*); who has the inclination to observe the code of conduct under the guidance of a able follower of religion; and who humbly and sincerely pursues his quest for the true path.

**होति समत्थो धम्मं, कु णमाणो जो न बीहइ परेसिं ।
माइपिइसामिगुरुमा - इयाण धम्माणभिण्णाणं ॥५॥**

५. जो धर्म से अनभिज्ञ माता - पिता - स्वामी - गुरु आदि दूसरे व्यक्तियों से भयभीत नहीं होता है वही जिन - धर्म का आचरण करने में समर्थ होता है।

5. Only he has the capacity to accept and follow the right conduct who is not shy of or awed by parents, employer, teacher, or other such high placed persons who are ignorant of the true religion.

**सुत्तापडिकुट्ठो जो, उत्तमधम्माण लोगविक्खाए ।
गिहिधम्मं बहु मण्णइ, इहपरलोए विहिपरो य ॥६॥**

**उचियं सेवइ वित्तिं, सा पुणं नियकुलकमागया सुद्धा ।
माहणखत्तियवइसा-ण सुद्धसुद्दाण नियनियगा ॥७॥**

६-७. जो आगम सम्मत उत्तम लौकिक धर्मों की अपेक्षा भी इस लोक और परलोक में कल्याणकारी श्रावक धर्म को श्रेष्ठ मानते हैं, वे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं हिंसा आदि वर्जित कर्म नहीं करने वाले विशुद्ध शूद्र भी अपने-अपने कुल की उचित वृत्ति (व्यवसाय) करते हुए शुद्ध हैं। अर्थात् श्रावक धर्म के अधिकारी हैं।

6, 7. Out of the propitious religions recognised by the *Agams* (Jain canon) the *shravak-dharm* is believed to be the most widely acclaimed, systematic and benefic for this life and the life here after. The conduct therein is pure and faultless, and meant to be imm aculately followed by every caste including

Brahman, *Kshatriya*, *Vaishya*, and pure *Shudra* (leaving aside the violent castes) as it assimilates for each its own traditional conduct.

एए पुण विण्णेया, लिंगेहितो परोवयारीहिं।
ताई तु पंच पंच य, तिण्हं पि हवंति एयाइं ॥८॥

८. बहुमान्य गृही धर्म के इन लक्षणों को परोपकारियों (धर्माचारियों) से जानना चाहिए। ये गृही धर्म के अधिकारी लक्षण पाँच-पाँच और तीन प्रकार के हैं। इनका आगे प्रतिपादन करेंगे।

8. One should learn the principal attributes of the popular and revered *grihi dharm* or householder's conduct from the benefactors (*acharya*; religious teacher, or head of the ascetic order). There are 5, 5, and 3 (13) attributes I will discuss here in details.

गिहिधम्मकहापीई, निंदाऽसवणं च तदणुकंपा य।
सविसेसजाणणिच्छा, चित्तनिवेसो तहिं चेव ॥९॥

९. श्रावक धर्म की कथा अर्थात् अनुष्ठान में प्रीति, किसी की निन्दा नहीं सुनना, निंदकों पर भी अनुकम्पा या करुणा, विशेष रूप से ज्ञान प्राप्त करने की जिज्ञासा और चित्त का धर्म में निवेश (एकाग्रता) - ये धर्म के पाँच लक्षण हैं।

9. Love for discourses (and other rituals and programmes) on or about the *shravak dharm* (1); indifference towards opprobrium about *shravak dharm* (2); compassion towards such critics (3); curiosity to gain better knowledge of the same (4) and sincere application (concentration and devotion) (5) are the five attributes of *dharm*.

गुरुविणओ तह काले, नियए चिइवंदणाइकरणं च।
उचियासण जुत्तसरो, सज्झाए सययमुवओगो ॥ १० ॥

१०. गुरु अर्थात् धर्माचार्य का विनय करना तथा नियत काल (त्रिकाल) में चैत्यवन्दन आदि करणीय अनुष्ठान को करना, धर्म - श्रवणादि कार्यों में उचित आसन पर बैठना, युक्त (मध्यम) स्वर से निरन्तर उपयोग (विवेक) पूर्वक स्वाध्याय करना —— ये उपासना के पाँच लक्षण हैं।

10. Reverence of the guru (preceptor or religious teacher) (1); paying homage at the temple (and doing other prescribed daily rituals) at proper hours (three times everyday) and sitting properly at a proper place (during religious discourse) (2); and attentively reading in normal voice (3); these are the attributes of worship the religious texts.

सव्वजणवल्लहत्तं, अगरहियं कम्म वीरया वसणे।
जहसत्ती चागतवा, सुलद्धलक्खत्तणं धम्मे ॥ ११ ॥

११. (सम्यक् व्यवहार / आचरण से) समस्त जनों का वल्लभ / प्रिय बनना, (जीविकोपार्जन में) अनिंदित कर्म करना, आपदा में वीरता (अदैन्य भाव) रखना, यथाशक्ति त्याग और तप करना सुलब्ध धर्म में लक्ष्य रखना – ये पाँच सद् गृहस्थ के लक्षण हैं।

11. To be adored by all (as a result of good behaviour and proper conduct) (1); to do work that is not censured by society (for livelihood) (2); to remain brave (unabashed) in face of distress (3); to indulge in charity and austerity to the best of one's capacity (4); and to make welfare of others the goal of religious activities (5); (these are the other five attributes of the *grihastha dharm*).

एएहि तदहिगारित्तणं धुवं लक्खणेहिं नाऊणं ।
गिहिधम्मं गाहिज्जा, सिद्धंतविराहणा इहरा ॥ १२ ॥

१२. गृहस्थ धर्म का वह अधिकारी निश्चय रूप से गृहस्थ धर्म के उक्त लक्षणों को आत्मसात कर फिर श्रावक धर्म को ग्रहण / अंगीकार करें अन्यथा वह सिद्धान्त - विराधक / सर्वज्ञ की आज्ञा का उल्लंघन करने वाला होता है।

12. The seeker should first properly understand and accept these attributes and then follow the *shravak-vrat*s. Otherwise he becomes a transgressor of the principles or a violator of the tenets of the omniscient.

सम्मत्तमूलिया ऊ, पंचाणुव्वय गुणव्वया तिण्णि ।
चउसिक्खावयसहिओ, सावगधम्मो दुवालसहा ॥ १३ ॥

१३. सम्यक्त्व मूल है जिसका ऐसा श्रावक धर्म पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रत रूप बारह प्रकार का है।

13. The *shravak dharm* based on *samyaktva* (righteousness, i.e. a specific state of righteousness where right perception and right knowledge start translating into right conduct) has twelve types (limbs) including five *anuvrats* (minor-vows), three *gunavrat*s (restraints that reinforce the practice of *anuvrat*s), and four *shikshavrat*s (vows of spiritual discipline).

तत्थ तिहा सम्मत्तं, खइयं उवसामियं खओवसमं ।
मिच्छत्तपरिच्चाएण होइ तव्वज्जणं चेयं ॥ १४ ॥

१४. वहाँ (श्रावक धर्म में) सम्यक्त्व तीन प्रकार का है :- १. कायिक, २. औपशमिक और ३. क्षायोपशमिक। यह (सम्यक्त्व) मिथ्यात्व का त्याग करने से होता है और मिथ्यात्व का वर्जन इस प्रकार होता है –

14. There (in *shravak dharm*) that *samyaktva* is of three types — 1. *Kshayik* (gained through destruction of *karmas*), 2. *Aupashamik* (gained through pacification of *karmas*), and 3. *Kshayopashamik* (gained through destruction-cum-pacification of *karmas*). This (*samyaktva*) is attained by getting rid of *mithyatva* (unrighteousness; false perception or belief). The method of rejecting fallacy is stated here under.

न करेइ सयं मिच्छं, न कारवेई करंतमवि अण्णं ।
नो अणुजाणइ मणसा, एवं वायाएँ काएणं ॥ १५ ॥

१५. जो मन, वचन एवं कर्म से न तो स्वयं मिथ्यात्व का सेवन करता है, न दूसरों से करवाता है और न मिथ्यात्व का सेवन करने वाले अन्य व्यक्तियों का अनुमोदन / समर्थन करता है।

15. One should neither; through mind, speech, or body; indulge in unrighteousness nor should he inspire or approve others doing so.

मिच्छत्तमणेगविहं, सुयाणुसारेण होइ विण्णेयं ।
लोइयदेवेसु पसत्थमणवईकायवावारो ॥ १६ ॥

१६. मिथ्यात्व अनेक प्रकार का है, उसे आगमानुसार जानना चाहिए। लौकिक देवों पर प्रशस्त (मुक्ति निमित्त आराधना की दृष्टि से) मन, वचन और काया का व्यापार करना।

16. Unrighteousness is of many types and one should know about it from the *Agams* (canons). (Unrighteousness includes —) to indulge in august activities of worship (rituals supposedly aimed at liberation) of mundane gods (the gods that indulge in mundane activities and bestow mundane benefits) through mind, speech, or body instead of worshipping the *Arhats*.

वंदणमेयं मल्लाइ पूयणं वत्थमाइ सक्कारो ।
माणसपीई माणो, एमाई सुहुममइगम्मं ॥ १७ ॥

१७. इन लौकिक देवों का वन्दन करना, पुष्पमालादि चढाना, पूजा करना, वस्त्रादि चढाना, सत्कार करना, हार्दिक अनुराग रखना, सन्मान देना इत्यादि मिथ्यात्व है। इसे सूक्ष्म बुद्धि से जानना चाहिए।

17. To pay homage to mundane gods; sing panegyrics for them; offer oblations of flowers, garlands, apparels, etc. to them; worship and honour them; have deep faith in them; etc. are included in the said types of unrighteousness. The wise should know this precisely.

लोगुत्तमदेवम्मि वि, लोइयदेवाण जाणि लिंगाणि ।
इच्छापरिग्गहाईणि तेसिमारोवणं मिच्छा ॥ १८ ॥

१८. लौकिक देवों के जो इच्छा, ऐश्वर्य (परिग्रह) आदि लक्षण हैं उन्हें लोकोत्तम देवों अर्थात् वीतराग देवों पर आरोपित करना मिथ्यात्व है।

18. To install the attributes of mundane gods; such as desire, grandeur (covetousness), etc.; in the higher gods (the Detached ones or *Tirthankars*) is unrighteousness.

तह अण्णतित्थियाणं, तावससक्काइलिंगधारीणं ।
पुव्वालवणाइ परिच्चओ य तव्वयणकरणाई ॥ १९ ॥

१९. इसी प्रकार अन्य तैर्थिकों, तापस, शाक्य आदि वेशधारियों के साथ वार्तालाप करना, उनसे अति परिचय करना और उनके वचनानुसार कार्य करना आदि भी मिथ्यात्व है।

19. To indulge in activities like conversation with, seeking friendship of and acting in accordance with the advise of formally

dressed preachers of other religious schools, hermits, Buddhist monks, etc. (is also classified as unrighteousness).

वंदणपूयणसक्करणाइ सव्वं न कप्पए काउं ।
लोगुत्तमलिंगीण वि, केसिंचेवं जओ भणियं ॥ २० ॥

२०. जैसा आगमों में कहा गया है लोकोत्तम लिंगधारक अर्थात् जैन मुनि वेशधारक पार्श्वस्थ आदि का भी वंदन, पूजन - सत्कार आदि सभी करना योग्य नहीं है।

20. As is mentioned in *Agam*s, it is not proper to indulge in devotional activities including paying homage to, or worshipping, or offering reverence to, even those dressed as Jain ascetics but having lax conduct and other shortcomings.

पासत्थोसण्ण - कुसीलणीय - संसत्तजण - महाछंदं ।
नाऊण तं सुविहिया, सव्वपयत्तेण वज्जंति ॥ २१ ॥

२१. पार्श्वस्थजन (शिथिलाचारी), अवसन्नजन (खिन्न मन से आचार पालन करने वाले), कुशीलजन (आचारहीन), सदैव एक स्थान पर रहने वाला मठाधीश, संसक्तजन (विद्या अर्थात् मन्त्र-तन्त्र आदि द्वारा जन सम्पर्क बढाने वाला), यथाच्छन्द (उत्सूत्राचारी) के स्वरूप को जानकर सुविहितों (विधिज्ञ श्रावकों) को इनका सर्व प्रकार से त्याग करना चाहिए।

21. The *Suvihits*, i.e. those who have authentic knowledge of code of conduct and who also properly follow it, should know all about and completely reject all those who are lax in conduct; or are reluctantly following the codes of conduct; or are *yathachhand,* i.e. those who interpret and follow the code in their own way and not in accordance with the canon; or are not itinerant; or are influencing others by their accomplishments, and are going against the codes.

एत्थ य पासत्थाईहिं संगयं चरणनासयं पायं।
सम्मत्तहरमहाछंदेहिं उ तल्लक्खणं चेयं॥ २२ ॥

२२. इस प्रकार यहाँ पार्श्वस्थ आदि की संगति (परिचय आदि) सम्यक्त्व का हरण करने वाली, चारित्र का नाश करने वाली और पतन रूप है। यथाच्छन्दों का लक्षण इस प्रकार है ।

22. Know that the company (acquaintance, etc.) of these lax, etc. individuals is damaging to the conduct, and a sign of downfall, and ruinous to *Samyaktva* (righteousness). The attributes of such waywards are as follows.

उस्सुत्तमायरंतो, उस्सुत्तं चेव पण्णवेमाणो।
एसो उ अहाछंदो, इच्छाछंदो त्ति एगत्था॥ २३ ॥

२३. उत्सूत्र (शास्त्र विरूद्ध) आचरण करने वाला और उत्सूत्र प्ररूपणा करने वाला यथाच्छन्द (स्वेच्छाचारी) कहलाता है। यथाच्छन्द और इच्छाच्छन्द एकार्थक हैं।

23. One whose conduct is against the scriptures and who also propagates against the scriptures is called *yathachhand* or wayward. *Yathachhand* and *ichhachhand* are synonyms.

उस्सुत्तमणुवइट्ठं, सच्छंदविगप्पियं अणणुवाई।
परतत्तिपवित्ते तिंतिणो य इणमो अहाछंदो॥ २४ ॥

२४. यथाच्छन्द उत्सूत्र अर्थात् आगम विरुद्ध आचरण करने वाला अव्याख्यात है। स्वच्छन्द कल्पित चिंतन भी आगम की व्याख्या से विरुद्ध होता है। वह अन्य लोगों को संतुष्ट करने में लगा रहता है और बडबड (बकवास) करने वाला होता है। यह यथाच्छन्द का स्वरूप है।

24. The preaching of a *yathachhand* are not authentic, which means they are against the tradition of *Agams*. His wayward and hypothetical contemplations are also contrary to the *Agams*. He is busy in satisfying other people and uttering nonsense. This is the description of a *yathachhand*.

सच्छंदमइ विगप्पिय, किंची सुहसायविगइपडिबद्धो।
तिहिं गारवेहिं मज्जइ, तं जाणाही अहाछंदं॥ २५ ॥

२५. जो स्वच्छन्द मन से कल्पित विकल्पों में जीता है और कुछ सुखद विकृतियों (विकारोत्पादक घृतादि रसों) में गृद्ध होकर तीनों गौरव – ऋद्धि गौरव, सुख गौरव और रस गौरव में डूब जाता है, उसे यथाच्छन्द जानो।

25. Consider him to be a *yathachhand* who, under the influence of fondness for the meagre and mundane pleasures, and perversions (availability of rich food etc.), is drawn into the three mundane attainments of worldly wealth (possessions), pleasures, and enjoyments.

उस्सुत्तं पुण एत्थं, थावरपाओगकूवकरणाई।
उब्भूइगकरउप्पा-यणाइ धम्माहिगारम्मि॥ २६ ॥

२६. पुनः चैत्य की चिंता में स्थावर प्रयोग अर्थात् गृह निर्माण करना, धान्य वृद्धि का उपाय करना, कूँआ खुदवाना, बगीचा आदि लगवाना तथा अभिनव कर लगाकर सम्पत्ति प्राप्त करना तथा ऐसे और भी आगम विरुद्ध कार्य करना उत्सूत्र आचरण है।

26. Also, to construct buildings, to employ methods of increasing agricultural produce (crop), to get wells dug, to get gardens made, etc. and impose and collect new taxes, or indulge in any other such activity that is against the *Agams* is erroneous conduct.

एमाइ बहुविगप्पं, उस्सुत्तं आयरंति सयमेव।
अन्नेसि पण्णवेंति य, सिच्छाए जे अहाछंदा॥ २७ ॥

२७. इस प्रकार अनेक प्रकार से जो स्वेच्छा से उत्सूत्र आचरण करते हैं, उत्सूत्र (आगम विरुद्ध) प्रतिपादन करते हैं और अन्य लोगों को भी (उत्सूत्र आचरण के लिए) प्रेरित करते हैं वे यथाच्छन्द हैं।

27. Further, those who, of their own volition, follow an erroneous conduct, propagate it, and inspire others to accept it are *yathachhand.*

एत्तो च्चिय तेसिमुवस्स यम्मि तु दिवससमागओ साहू।
तेसिं धम्मकहाए, कुणइ विघायं सइ बलम्मि॥ २८ ॥

२८. अतएव सामर्थ्यवान मुनि को दिन में यथाच्छन्दाचारियों के उपाश्रय में जाकर सामर्थ्य के साथ उन स्वेच्छाचारियों की उत्सूत्र प्ररूपणा रूप धर्म कथा का विरोध करना चाहिए।

28. Therefore, an able ascetic should go to their (the wayward) place of stay during the day time and oppose their erroneous propagation or religious discourse.

इहरा ठएइ कण्णे, तस्सवणा मिच्छमेइ साहू वि।
अबलो किमु जो सड्ढो, जीवाजीवाइअणभिण्णो॥ २९ ॥

२९. अन्यथा अर्थात् यथाच्छन्दकों की उत्सूत्रमयी धर्म कथा का प्रतिघात करने में असमर्थ होने पर दोनों कानों को बन्द कर लें। क्योंकि सामान्य साधु भी उनकी देशना को सुनकर जब मिथ्यात्व को प्राप्त हो जाता है तो फिर जीवाजीवादि तत्त्वों से अनभिज्ञ एवं अबल अर्थात् आगम ज्ञान से रहित श्रद्धावान श्रावक के लिए तो प्रश्न ही कहाँ? अर्थात् वह तो निश्चय से मिथ्यात्व को प्राप्त कर लेता है।

29. Otherwise (if he does not have the strength to do so) he should close both his ears. Because when even an ascetic accepts falsehood if he listens to their preaching, where is the question of a mere devoted *shravak* who is weak (devoid of the knowledge of the *Agams*) and ignorant of the fundamentals like the knowledge about the living and the non-living? He is sure to accept falsehood.

वयणविसंवायाओ, उप्पज्जइ संसओ फुडं जं से।
तम्हा तमणाययणं, मिच्छं मिच्छत्तहेऊ वि ॥ ३० ॥

३०. सुविहितों और यथाच्छन्दियों के वचनों अर्थात् आगम की व्याख्या में विसंवाद होने के कारण प्रकटत: संशय / संदेह उत्पन्न होता है, अत: उनके चैत्य, उपाश्रय आदि स्थान भी अनायतन अर्थात् निवास के अयोग्य हैं। क्योंकि वे सम्यक्त्व की अशुद्धि या मिथ्यात्व के हेतु हैं।

30. Due to the contradictions (from those of the true ascetics) the statements and commentaries and interpretations of the wayward evidently invoke ambiguity and doubts. Thus, being sources of unrighteousness, their places of stay (*chaitya*, *upashraya*, etc.) are also improper.

इय सपरपक्खविसयं, सकारणं जाणिऊण मिच्छत्तं।
पच्चक्खिय तिह तिविहेण पालणाभावणा एवं ॥ ३१ ॥

३१. इस प्रकार स्वपक्ष और परपक्ष दोनों के विषय में मिथ्यात्व को उसके हेतुओं सहित जानकार मिथ्यात्व का त्याग करें और त्रिविध-त्रिविध रूप से भावपूर्वक उस त्याग का पालन करे।

31. Thus one should know, with reasons, the falsehood promoting factors of one's own school as well as the protagonists. And then he should resolve to avoid them and sincerely follow

this resolve with three means (mind, speech, and body) and in three ways (neither indulge himself in unrighteous activities, nor cause others to do so, or approve others doing so).

एयं अणंतरुत्तं, मिच्छं मणसा न चिंतइ करेमि।
सयमेसो य करेऊ, अण्णेण कए वि सुट्ठु कयं ॥ ३२ ॥

३२. इस प्रकार पूर्वोक्त लौकिक देवों के वन्दनादिक रूप मिथ्यात्व के सम्बन्ध में मन से भी यह चिन्तन न करे कि मैं स्वयं मिथ्या कार्य करूँ या अन्य से करवाऊँ अथवा अन्य के करने का समर्थन करूँ।

32. Thus he should not even think that he himself would indulge, inspire others to indulge, and approve of others indulging in the above explained unrighteousness (worship, etc. of the mundane gods).

एवं वाया न भणइ, करेमि अण्णं च न भणइ करेहि।
अन्नकयं न पसंसइ, न कुणइ सयमेव काएणं ॥ ३३ ॥

३३. इस प्रकार मन के समान वाणी द्वारा और काया से भी मिथ्या कार्य न तो स्वयं करे और न अन्य को प्रेरित करे और न अन्य के करने पर उसकी प्रशंसा ही करे।

33. In the same way (like thinking) one should neither do himself nor inspire others to do or praise others doing any such false activity through speech and body.

करसन्नभमुहखेवाइएहिं न य कारवेइ अन्नेणं।
न पसंसइ अन्नकयं, छोडियहसियाइचेट्ठाहिं ॥ ३४ ॥

३४. हाथ के इशारे से, आँख की चेष्टा से, वस्त्र हिलाकर, चुटकी बजाकर, हँसकर आदि चेष्टाएँ करते हुए न तो स्वयं मिथ्या कार्य करे और न अन्य से करावे और न अन्य के करने पर उसकी प्रशंसा ही करे।

34. One should not indulge himself, inspire others to indulge, and praise others indulging in such activities even from a distance by movement of hands, eyes, and clothes and gestures like laughing.

आह तिहाणुमई जं, संवासुवभोयपडिसुणणभेया।
गिहिणो य सयावासो, बहुमिच्छादिट्ठिमज्झम्मि ॥ ३५ ॥

३५. कुछ लोगों का कहना है कि अनुमोदन भी तीन प्रकार का होता है – मिथ्यादृष्टि बहुल बस्ती में सदा निवास करने से गृहस्थ का उनके साथ उठना-बैठना, उनके साथ खाना-पीना करना और प्रतिश्रवण अर्थात् ऐसा करो, वैसा करो आदि उनके वचनों का अनुसरण करना।

35. (A question arises —) While living all the time in proximity of those who are complete followers of unrighteousness there are chances of three ways of approval — living with them at one place, using things together or eating and drinking with them, and listening to their dictates like 'do this and do that'.

ता कह संवासाणुमइवज्जणं संभवइ सुणसु एत्थं।
न हु जिणमयम्मि संवासमित्तओ अणुमई इट्ठा ॥ ३६ ॥

३६. ऐसी स्थिति में उनके मिथ्यादृष्टियों के सहवास से मिथ्यात्व अनुमोदन का परिहार कैसे संभव है ? सुनो, उसे जिनमत या अर्हत् शासन में मिथ्यादृष्टियों के साथ निवास मात्र से अनुमोदन अभीष्ट नहीं है।

36. Under such conditions of living in their proximity how is it possible to avoid approving their activities? (Answer) Know this that in the order of the *Arhat* (Jain school) mere living with the followers of unrighteousness is not accepted as a sign of approval.

आरंभे विव मिच्छे, सव्वेसिं सव्वहिं अइपसंगो।
को पुण एत्थ विसेसो, भन्नइ इणमो निसामेहि ॥३७ ॥

३७. हिंसाजन्य कार्यों के समान मिथ्यात्व में भी संवासमात्र से अनुमोदन स्वीकार करने पर सर्वत्र मिथ्यात्व व्याप्ति का अतिप्रसंग होगा अर्थात् अतिव्याप्ति दोष होगा। (यहाँ तक कि जिन और मुनि पर भी मिथ्यात्व के अनुमोदन का प्रसंग आ जायेगा। क्योंकि कभी-कभी उन्हें भी मिथ्यादृष्टियों के मध्य निवास करना पडता है।) (किसी के पूछने पर) पुनः यहाँ क्या विशेषता है? इस विशेषता को कहते हैं, सुनो ।

37. If like acts of violence, approval of unrighteousness is thus accepted by proximity, the fault of total spread (ativyapti dosh) of unrighteousness will apply to all including the sagacious (*Jina* and true ascetic). (Question-) Please elaborate this. Listen to the elaboration -

आरंभे मिच्छत्ते, व वट्टमाणस्स जं पइ विगप्पो।
मं अणुमन्नइ एसो, होइ अ(होअ)णुमइ तस्स तत्थेव॥३८॥

३८. आरंभ (हिंसक कार्यों) और मिथ्यात्व में रत जिस व्यक्ति के प्रति श्रावक के मन में यह चिंतन होता है कि इन प्रवृत्तियों में मेरी सहमति है या मैं इनका समर्थन करता हूँ, उन्हीं प्रवृत्तियों के प्रति उसका अनुमोदन या समर्थन माना जाता है।

38. When a *shravak* thinks that he supports or approves of some violent activity or unrighteousness of another person who is indulging in them, he is guilty of approving or supporting only those specific activities.

जह राया सिट्ठजणो, कलजीवी पगइ अंतवासी य।
सव्वे मन्नंतेवं, वसाम अन्नोन्नसंगहिया॥ ३९ ॥

३९. जैसे राजा, शिष्टजन अर्थात् अमात्य श्रेष्ठी आदि, कलाजीवी अर्थात् शिल्पी आदि और अन्तेवासी अर्थात् सेवकजन आदि सब लोग आपस में एक-दूसरे का सहयोग करते हुए नगर में एक साथ रहते हैं।

39. A king, prominent people like ministers, and merchants, artisans, servants, and beggars, etc. all live together in a town co-operating each other (not in misdeeds).

करदाणेण य सव्वे, अन्नोन्नुवगारिणो फुडं चेय।
राया जाणवयाई, सिप्पकलाजीवणेणं च ॥ ४० ॥

४०. राजा कर लेकर, और जनपद (नगर निवासी) कर देकर एवं शिल्पी अपनी कला आदि से एक-दूसरे के उपकारी होकर रहते हैं, यह स्पष्ट ही है।

40. It is clear that the rulers and the ruled all live together interacting with each other in mutually connected activities like giving and collecting of taxes and supporting various arts, crafts and trades (this does not include any misdeeds).

इय आरंभेऽणुमई, किरियासामग्गिसंगयं जम्हा।
मिच्छं पुण भावकयं, सो पुण भावो न परजणिओ॥ ४१ ॥

४१. जिन कारणों से आरंभ में अनुमति / स्वीकृति मानी जाती है, वे कारण हैं — आरंभ आदि क्रिया प्रवृत्ति में पूरी तरह से सम्बद्ध होना। यदि व्यक्ति उसमें पूरी तरह से सम्मिलित नहीं है तो उसका अनुमोदन नहीं है। पुनः मिथ्यात्व की उत्पत्ति भाव अर्थात् अध्यवसायों से होती है और अध्यवसाय दूसरों से जनित नहीं होते हैं, वे व्यक्ति के अपने होते हैं।

41. The reasons for which an approval of ill-intention is accepted as that is to be completely involved in that activity based on ill intention. If a person is not completely involved in it, it is not approval. Moreover, the origin of unrighteousness is in attitude or intention and then only it is translated into activity. And intentions thrive within the self, others cannot be held responsible for them.

एवं संवासकओ मिच्छेत्तऽणुमइसंभवो नत्थि।
अह तत्थ वि इच्छिज्जइ, ता सम्मत्ते वि सो होइ॥ ४२ ॥

४२. इसी प्रकार साथ-साथ रहने मात्र से मिथ्यात्व में अनुमति संभव नहीं है। यदि साथ रहने मात्र से मिथ्यात्व का अनुमोदन मान्य हो तो फिर उसी स्थिति में सम्यक्त्व में भी मिथ्यात्व का अनुमोदन संभव होगा।

42. Thus just by living together at one place does not necessarily indicate approval of unrighteousness. Even under those conditions there are chances of approval of *samyaktva* (righteousness) as well, if you so yearn.

अह मन्नसि होइ च्चिय, कह न अभव्वाणमणुमई सम्मे।
सिय तेसु वि को दोसो, मोक्खपसंगाइबहुदोसा॥ ४३ ॥

४३. यदि ऐसा ही मानते हो तो अभव्यजनों की सम्यक्त्व में अनुमति क्यों नहीं अंगीकार करते? उसे मानने में क्या दोष है ? वस्तुतः यह मानने पर अभव्य में मोक्ष की संभावना आदि बहुत दोष होते हैं।

43. If it is so why the transition of *abhavya* (unworthy) into *samyaktva* is not acceptable (under the said conditions); what is the problem in accepting this? (Answer —) There are many problems in accepting this view, particularly in context of their liberation, etc.

इय मिच्छाओ विरमिय, सम्मं उवगम्म भणइ गुरुपुरओ।
अरहंतो निस्संगो, मम देवो दक्खिणा साहू॥ ४४ ॥

४४. अत: (त्रिविध-त्रिविध प्रकार से) मिथ्यात्व का त्याग कर सम्यक्त्व को अंगीकार करें, गुरु के समीप जाकर उनके समक्ष इस प्रकार सम्यक्त्व स्वीकार करे —— वीतराग अरिहंत ही मेरे देव हैं, पंच महाव्रतधारी साधु ही मेरे गुरु हैं।

44. Abandoning unrighteousness (through these nine ways) one should accept righteousness properly by approaching the guru, and declaring before him — The detached *Arihant* is my only deity, and the ascetics are my revered gurus.

अह सो सम्मद्दिट्ठी, संपुन्नं भावचरणमिच्छंतो।
पालेइ दंसणायारमट्ठहा सो पुण इमो त्ति॥ ४५ ॥

४५. इस प्रकार सम्यक्त्व की प्रतिपत्ति के पश्चात् वह सम्यक् दृष्टि (श्रावक) अखण्ड भावचारित्र की अभिलाषा करता हुआ आठ प्रकार के दर्शनाचार का पालन करे। दर्शनाचार के आठ भेद आगे वर्णित हैं।

45. After this first step, the individual (*shravak*) having right attitude (or faith) should observe the eight codes of *darshanachar* (conduct related to right faith) with the desire to attain the perfect attitude of right conduct. The eight codes of *darshanachar* are as follows.

निस्संकिय निक्कंखिय, निव्वितिगिच्छा अमूढदिट्ठी य।
उवबूहथिरीकरणे, वच्छल्लपभावणे अट्ठ॥ ४६ ॥

४६. निश्शंकितता, निराकांक्षता, नि:संदिग्धता, अविचलित दृष्टि, गुण-ग्राहकता, स्थिरीकरण अर्थात् विचलित होने वाले को धर्म मार्ग में स्थिर करना, स्वधर्मियों के प्रति वात्सल्यभाव, शासन और धर्म की प्रभावना – ये दर्शनाचार के आठ भेद हैं।

46. To be free of doubts (1), to be free of desires (2), to have non-skeptic approach (3), to have unwavering faith (4), to praise the virtuous (5), to stabilise religious faith of the wavering(6), to have fraternal attitude for co-religionists (7), and to promote the religious order (8); these are the eight codes of *darshanachar*.

निस्संकियाइरूवं, विवक्खचाएण होइ केसिंचि।
तेसिं विवक्खसरूवं, भन्नइ सेसाण नियरूवं॥ ४७ ॥

४७. कुछ (लोगों) को नि:शंकित आदि दर्शनाचार के स्वरूप का लाभ, उनके प्रतिपक्ष - शंका, कांक्षा, विचिकित्सा और मूढ दृष्टि का त्याग / परिहार करने पर होता है। अत: शंकादि के स्वरूप का प्रतिपादन करते हैं। शेष —— उपबृंहण, स्थिरीकरण, वात्सल्य, प्रभावना तो आत्म स्वरूप ही है।

47. Some people can attain the first four attributes of *darshanachar* by getting rid of the opposites — doubt, desire, suspicion, and ignorance. Therefore these four opposites will be described now. The other four — praise, stability, fraternity, and promotion of religious order — are self dependent.

संसयकरणं संका, कंखा अन्नोन्नदंसणग्गाहो।
संतम्मि वि वितिगिच्छा, सिज्झेज्ज न मे अयं अट्ठो॥ ४८ ॥

४८. संशय —— अर्हत् प्रतिपादित तत्त्वों में शंका करना, कांक्षा अर्थात् अन्य-अन्य दर्शनों (धर्मो) की अभिलाषा करना, विचिकित्सा अर्थात् त्याग एवं तपस्यादि से मेरी कार्य सिद्धि होगी या नहीं अथवा इनका फल प्राप्त होगा या नहीं, और ये निष्फल तो नहीं है ? ऐसा मतिभ्रम होना मूढ दृष्टि है।

48. Doubt is mistrust in the fundamental knowledge revealed by the *Arhat*. Desire is the inclination to follow other faiths (religions). Suspicion is the apprehension that asceticism

and austerities would yield the desired result or not. Ignorance or illusion is the disbelief that all these activities may prove to be worthless.

विउगुच्छ त्ति व गरहा, सा पुण आहारमोयमसिणाई।
संका दुविहा देसे, सव्वम्मि य तत्थिमा देसे॥ ४९ ॥

४९. वितिगिच्छा के स्थान पर वियुगुच्छ पाठ भी प्राप्त होता है। उसका अर्थ है — साधु की कुत्सा अर्थात् गरहा करना। पुनः यह गरहा साधुजनों के आहार, शरीर की मलीनता और स्नान न करने के आधार पर की जाती है।

संशय के दो भेद हैं :- देश (आंशिक) और सर्व। आगे देश विषयक शंका का लक्षण कहते हैं :-

49. (In some copies of the text there is a mention of *viuguccha* in place of *vitigiccha*) This *viuguccha* means to have disliking for or to speak ill of a *sadhu*. This dislike is inspired by the unusual style of various activities of the ascetics; such as eating (taking all food in one pot, etc.); remaining un-trimmed (having long hair, beard etc., not cleansing the body, urinating in a pot, etc.) and not bathing. Doubt is of two types — partial and complete. The partial doubt is explained as follows –

तुल्ले जीवत्ते कह, एगे भव्वाऽवरे अभव्व त्ति।
अहवेगाणुपुन्ने, खेत्तपएसे कहं अन्नो॥ ५० ॥

५०. जीवों में उपयोग लक्षण समान होने पर भी एक जीव भव्य है और दूसरा जीव अभव्य कैसे है? अथवा एक परमाणुपूरित स्थान में दूसरे परमाणु अवगाहन कैसे करते हैं?

50. In terms of attributes and conscious activities, when two beings appear to be same why then one is worthy and the other is unworthy of liberation? How can other ultimate particles

enter the same space where there already exists an ultimate particle?

ओगाहइ तत्थेव उ, न य परमाणूण लहुयरत्तं पि।
न य अन्नोन्नपवेसो, ता कहमेयं घडिज्ज त्ति ॥ ५१ ॥

५१. वे उसी आकाश प्रदेश में सर्वव्यापी होकर कैसे रहते हैं? जबकि परमाणु (पूर्व रूप से) लघु या लघुतर नहीं होते हैं और उनका एक-दूसरे में प्रवेश भी नहीं होता है, अत: यह कैसे घटित हो सकता है?

51. How can all these be accommodated in one and the same unit space when the ultimate particles can not be reduced in dimension. They can also not be merged or fused together, so how can this happen?

सव्वे दुवालसंगं, गणिपिडगं पगयभासबद्धं जं।
तम्हा पागयपुरिसेहिं कप्पियं मा न होज्ज त्ति ॥ ५२ ॥

५२. सम्पूर्ण द्वादशांगी अर्थात् आचारांग सूत्र आदि बारह अंग शास्त्र, जो गणधर रचित होने से गणिपिटक कहलाते हैं और प्राकृत भाषा में रचित हैं, वे प्राकृत पुरुषों अर्थात् सामान्य पुरुषों द्वारा रचित हैं? अथवा नहीं हैं? इसका निश्चय न कर पाना सर्वविषयक शंका कहलाती है।

52. The complete doubt is not being able to convince oneself that the *Dvadashangi* (the twelve canons including *Acharanga Sutra*) which is also known as *Ganipitak* (written by the *ganadhars*) is the creation of the great sages (as credited) or ordinary people because they are written in Prakrit which is the language of the masses.

कंखा देसे एगं, कुतित्थिमयमिच्छए जहित्थं पि।
भणियमहिंसादुक्कयसुकयफलं सग्गमोक्खाई॥ ५३ ॥

५३. कांक्षा — आंशिक एवं पूर्ण – ऐसी दो प्रकार की होती हैं। आंशिक कांक्षा वह है जिसमें व्यक्ति यह मानता है कि सांख्य आदि दूसरे दर्शन भी मोक्ष मार्ग का प्रतिपादन करते हैं, क्योंकि वे भी अहिंसा आदि धर्मों का प्रतिपादन करते हैं, जिनका सम्यक् प्रकार से परिपालन करने पर स्वर्ग या मोक्ष की प्राप्ति होती है।

53. (Desire is of two types — partial and complete.) The partial desire is — to believe that some other schools (*Samkhya*, etc.) also strive for liberation, because they also propagate the philosophy of *ahimsa*, truth, etc. which if properly followed leads to heaven or liberation.

सव्वे सव्वमयाइं, कंखइ जहभणियकारणेहिंतो।
संकाए पेयपाई, कंखाए अमच्चरायाणो॥ ५४ ॥

५४. सर्वविषयक कांक्षा वह है जिसमें व्यक्ति सर्वमत या समस्त दार्शनिक सिद्धान्त मोक्ष मार्ग के प्रतिपादक हैं, क्योंकि वे भी पूर्वोक्त अहिंसा आदि उन्हीं धर्मों का निर्देश करते हैं, जिनके अनुपालन से स्वर्ग या मोक्ष की प्राप्ति होती है। शंका के सम्बन्ध में पेयपायी का एवं कांक्षा के सम्बन्ध में राजा तथा अमात्य का उदाहरण प्रसिद्ध है।

54. The complete desire is — To believe that all other schools also strive for liberation, because they also propagate the said philosophy of *ahimsa*, truth, etc. which if properly followed leads to heaven or liberation. Regarding 'doubt' the story of **Peyapaayi** and regarding 'desire' the story of **The King And The Minister** are famous.

विचिगिच्छ देस एगं, चिइवंदणनियमपोसहाईयं ।
सफलं विफलं व होज्ज, न नज्जए सव्व सव्वाणि ॥ ५५ ॥

५५. विचिकित्सा के दो भेद कहे हैं :- देश विषयक और सर्व विषयक । देश विषयक विचिकित्सा वह है जिसमें व्यक्ति चैत्यवंदन, नियम, पौषध आदि अनुष्ठान आंशिक रूप में सफल होंगे या विफल होंगे, इस सम्बन्ध में असमंजस की स्थिति में होता है । ये चैत्यवंदन आदि अनुष्ठान पूर्ण रूप से सफल होंगे या निष्फल होंगे अथवा इनका पूर्ण रूप से फल मिलेगा या नहीं, यह विचार आना सर्वविषयक विचिकित्सा है ।

55. (Suspicion is of two types — partial and complete.) Partial suspicion is that in which one is partially doubtful about the fruits of activities like paying homage to the images in temples, observing the codes, and austere practices like *paushadh*. Complete suspicion is total uncertainty that — will these activities at all yield the desired fruits or not ?

पुव्वपुरिसा जइच्चिय (जहोइय), मग्गचरा घड इ तेसु फलजोगो ।
अम्हेसू धिइसंघयणविरहओ न तह तेसि फलं ॥ ५६ ॥

५६. आगम निर्दिष्ट यथोचित मार्ग का अनुसरण करने वाले पूर्व पुरुषों को उनके पूर्वोक्त चैत्य वंदन, नियम, पौषध आदि अनुष्ठानों का फल मिल सकता है, किन्तु हम तो धृति और संहनन अर्थात् शारीरिक शक्ति से रहित हैं, अत: हमें वह फल कैसे मिल सकता है?

56. Those who are steadfast in following the tenets of *Agams* and are strict in following the codes of conduct may get the fruits of the said activities. But we neither have patience nor the physical capacity to do so, therefore how can we get the desired fruits of those activities?

विचिगिच्छाए विज्जासाहंताऽसड्ढचोर दिट्ठंतो।
विउगुच्छाए पच्चंतवासिणो सड्ढगस्स सुया॥ ५७ ॥

५७. विचिकित्सा पर विद्यासाधक श्रद्धाहीन श्रावक और चोर का तथा मुनिजनों की कुत्सा पर प्रत्यन्तवासी अर्थात् सीमान्त प्रदेश के निवासी श्रावक की पुत्री का उदाहरण प्रसिद्ध है।

57. The results of suspicion are explained in the story of **The Faithless Shravak And The Devoted Thief.** The results of disliking for ascetics are explained in the story of **The Daughter Of The Shravak Who Lived At The Frontier Of The Country.**

इड्ढीओ णेगविहा, विज्जाजणिया तवोमयाओ य ।
वेउव्वियलद्धिकया, नहगमणाई य दट्ठूणं॥ ५८ ॥

५८. विद्याजनित वशीकरण आदि अनेक प्रकार की ऋद्धियाँ एवं उग्र तपस्या से प्राप्त वैक्रिय लब्धिकृत आकाशगमनादि वैभव को देखकर अप्रभावित रहना अमूढ- दृष्टि दर्शनाचार है।

58. Absence of illusion (*amudh drishti*) is to remain firm on the path shown by *Jina*s when confronted with the various accomplishments, such as hypnotism, acquired through esoteric practices and special powers, such as metamorphosis and levitation, acquired through vigorous austerities.

पूयं च असणपाणाइवत्थपत्ताइएहिं विविहेहिं।
परपासंडत्थाणं, सक्कोलूयाइणं दट्ठुं ॥ ५९ ॥

५९. इसी प्रकार बौद्ध, वैशेषिक आदि विधर्मियों की विविध प्रकार के खान-पान, वस्त्र-पात्र आदि के द्वारा पूजा-प्रतिष्ठा को देखकर भी अप्रभावित रहना अमूढ- दृष्टि दर्शनाचार है।

59. Also, absence of illusion (*Amudh drishti*) is to remain firm in one's own faith even after seeing the grandeur of

charlatans, monks of other schools including Buddhists, etc. evident in their worship done by offering them food, dress, and utensils, etc.

धिज्जाईयगिहीणं, पासत्थाईण वावि दट्ठूणं।
जस्स न मुज्झइ दिट्ठी, अमूढदिट्ठिं तयं बिंति ॥ ६० ॥

६०. ब्राह्मण, पुरोहितों और पार्श्वस्थों (शिथिलाचारी जैन मुनियों) के विविध प्रकार के ऋद्धि वैभव को देखकर के भी जिसकी दृष्टि मोहित नहीं है, भ्रान्त नहीं होती है, वह अमूढ दृष्टि कहलाता है।

60. Seeing a variety of accomplishments or mystical powers and grandeur of Brahmins and even Jain *sadhus* with lax conduct, one who is not attracted or befooled is the one having right perception or firm faith in Jainism.

खवणे वेयावच्चे, विणए सज्झायमाइउज्जुत्तं।
जो तं पसंसए एस होइ उववूहणा नाम ॥ ६१ ॥

६१. क्षपण अर्थात् विशिष्ट तप-साधना करने वाले, वैयावृत्य अर्थात् सेवा-शुश्रूषा करने वाले तथा विनय स्वाध्याय आदि संयम के मूल गुण और उत्तर गुण की साधना में जो उद्यमशील हैं, उनकी प्रशंसा करना उपबृंहण कहा जाता है।

61. To praise those who sincerely indulge in activities like austerities (fasting, etc.), serving senior ascetics, humbleness, self-studies, etc., jointly known as *charan-karan* (the basic and auxiliary attributes of discipline), is known as *upbrimhan* (to commend in order to encourage).

एएसुं चिय खवणाइएसु सीयंतु चोयणा जा उ।
बहुदोसे माणुस्से, मा सीय थिरीकरणमयं॥ ६२ ॥

६२. उक्त – पूर्व गाथा में वर्णित क्षपणादि की साधना में यदि कोई साधु / साधक शिथिल या खिन्न दिखाई देता है तो उसे आचार पालन में प्रोत्साहित कर स्थिर करना। उसे समझाना कि मनुष्य जीवन में बहुत से विघ्न आते रहते हैं, अत: प्रमाद मत करो, स्थिरीकरण कहलाता है।

62. If some ascetic appears to be tired or uneasy while indulging in aforesaid activities, he should be encouraged to be stable in following the conduct. This counselling that 'one comes across many deficiencies and hurdles in life while following the path of religion; do not get impeded in your pursuance of the right path,' is called stabilising.

साहम्मियवच्छल्लं, आहाराईहिं होइ सव्वत्थ।
आएसगुरुगिलाणे - तवस्सिबालाइसु विसेसा॥ ६३ ॥

६३. सभी स्वधर्मीजनों विशेष रूप से अतिथि, गुरु, (धर्माचार्य) ग्लान, रोगी, वृद्ध, तपस्वी, बालमुनि, शैक्ष आदि की यथाशक्ति भोजन, वस्त्र आदि देकर भक्ति करना स्वधर्मीवात्सल्य है।

63. To have fraternal feelings for all co-religionists and to display the same by action; such as offering food, clothes, etc. , is called affection for co-religionists. In this regard special care should be taken of guests; guru or *acharya*; sick and ailing, disabled and old, those indulging in harsh austerities, children and apprentice - ascetics; religious teacher; etc.

कामं सहावसिद्धं, तु पवयणं दिप्पए सयं चेव ।
तहवि य जो जेणऽहिओ, सो तेण पयासए तं तु ॥ ६४ ॥

६४. जिन शासन तो स्वमेव ही स्वभावत: दीप्तिमान है तथा जो अवधिज्ञानादि अतिशयों के द्वारा प्रवचन अर्थात् जिनवाणी अथवा जिनशासन को गौरव मण्डित करता है, वह दर्शनाचार का पालन करता है।

64. Although the religious organisation is self established and radiant by nature, to enhance its glory with the help of miracles and extra sensory knowledge is called *prabhavana darshanachar* or the conduct of popularising religion.

सुलसा अमूढदिट्ठी, सेणिय उववूह थिरीकरण साढो।
वच्छल्लम्मि य वइरो, पभावगा अट्ठ पुण हुंति ॥ ६५ ॥

६५. अमूढ दृष्टि पर सुलसा श्राविका, उपबृंहण पर राजा श्रेणिक, स्थिरीकरण पर आषाढाचार्य और वात्सल्य पर वज्रस्वामी के उदाहरण प्रसिद्ध हैं। पुन: प्रभावक भी आठ प्रकार के होते हैं।

65. The famous stories explaining these virtues are — on right perception is the story of **Sulasa Shravika**, the story of **King Shrenik** on *upabrimhan*, the story of **Ashadhacharya** on stabilising, and that of **Vajraswami** on affection for co-religionists. Now, the *prabhavak*s or those who popularise are of eight types.

साहम्मियवच्छल्लम्मि उज्जया उज्जया य सज्झाए।
चरणकरणम्मि य तहा, तित्थस्स पभावणाए य ॥ ६६ ॥

६६. वे साधर्मिकवात्सल्य, स्वाध्याय और चरण-करण की अर्थात् मुनि-आचार की साधना में तथा तीर्थ की प्रभावना में उद्यतशील होते हैं।

66. Only virtuous persons are actively involved in displaying affection for co-religionists, studying **Jain canon**, practising prescribed austerities, and popularising ***teerth*** or the ford.

अइसेस - इड्ढि - धम्मकहि - वाइ - आयरिय - खवग - नेमित्ती।
विज्जारायागणसम्मया, य तित्थं पभावेंति॥ ६७ ॥

६७. अवधिज्ञानादि विशिष्ट ऋद्धि के धारक, धर्म कथा में प्रवीण, वादी, प्रावचनिक, क्षपक अर्थात् तपोलब्धियुक्त, नैमित्तिक अर्थात् अष्टांग ज्योतिष, निमित्त शास्त्रादि में निपुण, तन्त्र-मन्त्र-यन्त्रादि विद्याओं में प्रौढ और राजा आदि द्वारा सम्मानित तीर्थ / शासन की प्रभावना करके उसे महिमा मण्डित करते हैं।

67. The persons who possess the accomplishments like *Avadhi-jnana* (extrasensory perception of the physical dimension) (1), who are proficient in religious discourses (2), who are experts of logic (3), who are experts of oration (*acharya*) (4), who have advanced in austerities (5), who have knowledge of augury and astrology (6), who have perfected the knowledge and practice of *tantra*, mantra, and *yantra* (7), and who are honoured by kings (8) are the ones who add to the glory of the *teerth* or the religious order.

तत्तत्थसद्दहाणं, सम्मत्तमसग्गहो न एयम्मि।
मिच्छत्तखओवसमा, सुस्सूसाई उ होंति दढं॥ ६८ ॥

६८. तत्त्वार्थ अर्थात् सर्वज्ञ की वाणी पर श्रद्धान सम्यक्त्व कहलाता है। इस सम्यक्त्व में असत्य के प्रति कदाग्रह नहीं होता है। मिथ्यात्व का क्षयोपशम होने से शुश्रूषादि (गुणों) द्वारा सम्यक्त्व दृढ होता है।

68. *Samyaktva* is faith in the tenets of the omniscient. In this there is no prejudice for false or non-existent. *Kshayopasham* (the process of extinction-cum-suppression) of unrighteousness and acquisition of virtues like *sushrusha* (taking care of others; attending to the needs of others), strengthens *samyaktva*.

सुस्सूस धम्मराओ, गुरुदेवाणं जहासमाहीए ।
वेयावच्चे नियमो, वयपडिवत्तीए भयणा उ ॥ ६९ ॥

६९. (शुश्रूषा आदि गुणों का कथन करते हैं :-) शुश्रूषा, धर्म के प्रति अनुराग, गुरु अर्थात् धर्माचार्य और देव अर्थात् अर्हन्त के साधना एवं ध्यान में विघ्न न हो, उन्हें समाधि रहे। इस प्रकार उनकी नियमपूर्वक वैयावृत्त्य अर्थात् सेवा करना और यथाशक्ति व्रतों का पालन करना।

69. (Description of virtues —) *Sushrusha* or the desire to listen to the tenets of the omniscient; devotion for religion; to serve the guru and *Arhants* with devotion taking special care of their spiritual practices and general comfort, and to observe vows to the best of ones capability.

जं सा अहिगयराओ, कम्मखओवसमओ न य तओ वि।
होइ परिणामभेया, लहुं ति तम्हा इहं भयणा ॥ ७० ॥

७०. सम्यक्त्व लाभ के पश्चात् व्रतांगीकरण की इच्छा भी कर्मों के क्षयोपशम अथवा क्षय के बिना नहीं होती है। पुनः कर्मों का क्षयोपक्षम परिणाम भेद पर आधारित होता है, अतः व्रत-प्रतिपत्ति में भजना अर्थात् विकल्प रहता है, जब कि गुरु की शुश्रूषा एवं सेवा तो नियमतः करनी ही होता है।

70. Even after attaining *samyaktva* or righteousness, the will to accept vows does not arise in absence of *kshayopasham* (the process of extinction-cum-suppression of *karmas*) or *kshaya* (extinction)of *karmas*. Thus, the acceptance and observance of

vows may or may not be followed by attaining righteousness. However, as a rule one must serve the guru.

सम्मा पलियपुहुत्तेऽवगए कम्माण भावओ हुंति।
वयपभिईणि भवण्णवतरंडतुल्लाणि नियमेण॥ ७१ ॥

७१. सम्यक्त्व प्राप्ति के पश्चात् मोहनीय आदि कर्मों की स्थिति पल्योपम पृथक्त्व अर्थात् २ से ९ पल्योपम जितनी शेष रहने पर संसाररूपी समुद्र पार करने के लिए नौका के समान व्रतादि नियमत: / अवश्य होते हैं।

71. After attaining the state of righteousness, when the extinction of *Mohaniya* and other *karmas* is less then two to nine *palyopams* (a conceptual unit of time) away, the will to observe vows is born essentially. These vows are like a boat to cross the ocean of mundane life.

पंच उ अणुव्वयाइं, थूलगपाणवहविरमणाईणि।
उत्तरगुणा उ अण्णे, दिसिव्वयाइं इमेसिं तु॥ ७२ ॥

७२. स्थूल प्राणीवध विरमण अर्थात् अहिंसा आदि मूल गुण रूप पाँच अणुव्रत और उत्तर गुण रूप शेष दिग्व्रत आदि तीन गुण व्रत एवं सामायिक आदि चार शिक्षा व्रत होते हैं।

72. There are five basic virtues in the form of the five minor vows including refraining from killing gross beings (*ahimsa*), etc.; and auxiliary virtues in the form of three *guna vrat* (*dik-vrat* or directional vows, etc.); and four *shiksha vrat* (*samayik*, etc.). [*guna vrats* are restraints that reinforce the practice of *anuvrats* and *shiksha vrats* are vows of spiritual discipline].

भंगसयं सीयालं, तु विभयभेएण गिहिवयग्गहणे।
तं च विहिणा णेयं, विसेयं अंकरयणाए॥ ७३ ॥

७३. गृहिव्रत (अणुव्रत आदि) ग्रहण करने पर वैयक्तिक भेद से १४७ विकल्प हो सकते हैं। उन्हें अंक रचना - प्रस्तार भेद की विधि से जानना चाहिए।

73. The process of accepting the *shravak*-vows (*anuvrat* etc.) has one hundred and forty seven alternatives from the angle of application. These should be understood with the help of numbers.

तिण्णि तिया तिण्णि दुया, तिण्णिक्किक्का य होंति जोगेसुं।
ति दु एक्कं ति दु एक्कं, ति दु एक्कं चेव करणाइं॥ ७४ ॥

७४. श्रावक के व्रतों के प्रत्याख्यान में योग विषयक तीन, तीन, तीन, दो, दो, दो, और एक, एक, एक और करण विषयक तीन, दो, एक, तीन, दो, एक और तीन, दो, एक भंग अर्थात् विकल्प होते हैं।

74. Regarding the vows for laity, taking the parameters of yoga (method or the activity of mind, speech and body) the numerical structure of alternatives is three, three, three; two, two, two; and one, one, one. Taking the parameters of *karan* (means or by doing, by causing others to do, and by approving others doing) the numerical structure is three, two, one; three, two, one, and three, two, one.

तिविहं तिविहेणिक्को, एगयरतिगेण भंगया तिन्नि।
तिगरहिए नव भंगा, सव्वे उण अउणपन्नासा॥ ७५ ॥

७५. त्रिविध —— त्रिविध के साथ पहले भंग का एक विकल्प, त्रिविध के साथ द्विविध एवं एक विध के चार विकल्पों में प्रत्येक के अवान्तर विकल्प तीन-तीन होते हैं— इस प्रकार बारह विकल्प

(भंग) होते हैं। द्विविध के साथ द्विविध और एक विध के तीन विकल्प होते हैं, इन तीनों के प्रत्येक के अवान्तर विकल्प नौ होते हैं – इस प्रकार सत्ताइस विकल्प (भंग) होते हैं। पुन: एकविध का एकविध के साथ एक विकल्प के अवान्तर विकल्प नौ होते हैं। इस प्रकार इनके कुल उनचास भंग होते हैं। इस प्रस्तार का कोष्ठक निम्न है :-

३	३	३	२	२	२	१	१	१		योग
३	२	१	३	२	१	३	२	१		करण
१	३	३	३	६	६	३	९	९	= ४९	आगत भंग

75. The first combination, three with three, has only one alternative (see S. No. 1 in the chart). the second set of four combinations of three with two and one has three alternatives each (S. Nos. 2, 3, 4, and 7) , the third set of three combinations of two with two and one has nine alternatives each. The fourth combination of one with one has nine alternatives (S. No. 9) The tabulated form of these alternatives that add up to 49 is as follows :

3	3	3	2	2	2	1	1	1		Yoga
3	2	1	3	2	1	3	2	1		Karan
1	3	3	3	9	9	3	9	9	= 49	Alternatives

कालतिएण य गुणिया, सीयालसयं तु होइ भंगाणं।
विसयबहिं भंगतियं, चोयालसयं सविसयम्मि ॥ ७६ ॥

७६. उक्त उनचास भंगों का कालत्रिक —— अतीत, अनागत, और वर्तमान के साथ गुणन करने पर एक सौ सेंतालीस भंग होते हैं। भरत क्षेत्र के मध्य खण्ड के बाहर अनुमति देना गृहस्थ के लिए सम्भव न होने के कारण तीन भंग कम करने पर स्वविषय में एक सौ चवालीस भंग होते हैं।

76. When these 49 parameters are multiplied by three of time (past, present, and future) the total number of alternatives becomes 147. As it is beyond the capacity of those living in this continent (*Bharat Khand*) three of these alternatives have been disallowed. Therefore, for all practical purposes there are only 144 alternatives.

संभवमहिगिच्चेयं, नियविसओ भरह आरियं खंड।
तस्स बहिं सव्ववया, साहुसरिच्छा सविगिहीणं॥ ७७ ॥

७७. सम्भावित विकल्पों या भंगों की अपेक्षा से यहाँ ऐसा कहा गया है। अथवा भरत क्षेत्र के आर्य खण्ड को लक्ष्य में रखकर ऐसा कहा गया है। उस भरत क्षेत्र के बाहर अन्य क्षेत्रों में तो श्रावकों के (पूर्वोक्त) सर्वव्रत साधु के समान ही त्रिविध-त्रिविध रूप से होते हैं।

77. The said statement is in context of the probabilities of alternatives. This is with reference to *Bharat* area or *Aryavarta*. For all other areas (*Mahavideh*, etc.) all the vows for householders are same as those for ascetics, i.e. based on combinations of three means and three methods.

थूलगपाणवहस्सा, विरई दुविहो य सो वहो होइ।
संकप्पारंभेहिं, वज्जइ संकप्पओ विहिणा॥ ७८ ॥

७८. स्थूल प्राणीवध विरति के अन्तर्गत वध दो प्रकार का होता है – संकल्पजनित और आरम्भजनित। श्रावक संकल्पजनित हिंसा का विधिपूर्वक त्याग करे।

78. Abstaining from killing of gross beings is of two types — intentional or as a consequence of some activity. A *shravak* should abstain from indulging in intentional killing according to the laid down procedure.

गुरुमूले सुयधम्मो, संविग्गो इत्तरं व इयरं वा।
वज्जित्तु तओ सम्मं, वज्जेइ इमे अईयारे ॥ ७९ ॥

७९. गुरु अर्थात् आचार्य आदि सद्गुरु के समक्ष श्रुतधर्म अर्थात् आगमोक्त अणुव्रतादि का श्रवण कर संविग्न अर्थात् मोक्ष सुखाभिलाषी श्रावक निश्चित समय के लिए अथवा जीवनपर्यन्त के लिए प्राणी वध का सम्यक् प्रकार से त्याग करे और निम्न अतिचारों अर्थात् त्याग को मलिन करने वाले हेतुओं का मनन करे।

79. A *shravak* desirous of the bliss of liberation should listen to the preaching of the *acharya* or other ascetic about the minor vows, etc. as mentioned in the *Agam*s. And then he should resolve to abstain properly and sincerely from the act of killing for a specific period or for whole life. He should also avoid the following transgressions (*atichar* — acts that tarnish or dilute this abstinence).

बंधवहछविच्छेयं, अइभारं भत्तपाणवोच्छेयं।
कोहाइदूसियमणो, गोमणुयाईण नो कुज्जा॥ ८० ॥

८०. प्रथम प्राणातिपात विरमण के पाँच अतिचार हैं — १. गाय, अश्व आदि चतुष्पद, मनुष्यादि द्विपदों को रस्सी आदि से कसकर बाँधना, २. वध अर्थात् चाबुक आदि से पीटना, ३. छविच्छेद अर्थात् अंगच्छेद करना, ४. अत्यधिक भार लादना और ५.समय पर भोजन-पान आदि से वंचित रखना — इन अतिचारों का क्रोधादि दूषित मन से सेवन न करे।

80. The five transgressions of the first minor vow, to abstain from killing beings : 1.To avoid to tie up with rope, etc.; 2. beat, whip, etc.; 3. disfigure, amputate, etc.; 4. overload, etc.; and 5. deprive of food, water, etc. animals and human beings or bipeds, quadrupeds etc. These transgressions should never be done with bad intention, such as anger, etc.

थूलमुसावायस्स य, विरई सो पंचहा समासेण।
कण्णा - गोभूमालिय - नास - हरण - कूड - सक्खिज्जे ॥ ८१ ॥

८१. स्थूल मृषावाद संक्षेप से निम्न है :— कन्या, गाय और भूमि के विषय में झूठ बोलना, कलह के समय रागवश झूठ बोलना, दूसरे के द्वारा रक्षण हेतु रखे हुए धन को हड़प जाना और झूठी साक्षी देना। श्रावक दूसरे व्रत में इनका त्याग करता है।

81. In brief gross-falsehood includes — To give false information about daughter, cow, land, etc.; to misappropriate funds given for safe-keeping; and to give false evidence. A *shravak* abstains from these in the second minor vow.

इह सहसब्भक्खाणं, रहसा य सदारमंतभेयं च।
मोसोवएसयं कूडलेहकरणं च वज्जेज्जा ॥ ८२ ॥

८२. इस मृषावाद विरति में १. बिना विचारे झूठा आरोप लगाना, २. किसी के गुप्त रहस्य को प्रकट करना, ३. स्वयं की पत्नी द्वारा विश्वास के साथ कही गुप्त बात को दूसरे के सामने प्रकट करना, ४. मिथ्या उपदेश देना और ५. झूठे लेख लिखना। इन पाँच अतिचारों का परिहार करे।

82. While observing this vow one should also avoid such transgressions as — to put false blame without ascertaining the facts (1); to expose secrets of others (2); to express before others the secrets told in confidence by one's wife (3); to give false preaching (4); and to prepare false documents (5).

थूलादत्तादाणे, विरई तं दुविह मो उ निद्दिट्ठं।
सच्चित्ताचित्तेसुं, लवणहिरण्णाइवत्थुगयं ॥ ८३ ॥

८३. स्थूल अदत्तादान व्रत के दो भेद आगमों में निर्दिष्ट हैं :— सचित्त और अचित्त। सचित्त लवणादि और अचित्त हिरण्यादि पदार्थगत होते हैं।

83. The vow of *adattadaan* or abstaining from taking what is not given (of gross level) has two divisions (according to *Agams*) — *sachit* (infested with living organism) and *achit* (free of living organism). The *sachit* include things like salt, etc. and the *achit* include things like gold, etc.

वज्जइ इह तेनाहड तक्करजोगं विरुद्धरज्जं च।
कूडतुलकूडमाणं, तप्पडिरूवं च ववहारं॥ ८४ ॥

८४. अदत्तादन विरति के पाँच अतिचार हैं :– १. तस्करों द्वारा लाई गई वस्तु को खरीदना, २. तस्करों के कार्य में सहयोग देना, ३. राज्य शासन के नियमों का अतिक्रमण करना, ४. व्यापार में झूठे तोल-माप के द्वारा अधिक लेना और कम देना और ५. वस्तुओं में मिलावट कर व्यापार करना। (श्रावक इनका आचरण न करे।)

84. The five transgressions of this vow of *adattadan* are — to buy stolen or smuggled goods (1); to offer assistance in the acts of stealing and smuggling (2); to violate the laws of the state (3); to use non-standard weights and measures for cheating others (4); and to resort to adulterating merchandise (5). (A *shravak* should not indulge in such acts of transgression.)

परदारस्स य विरई, ओरालविउव्वभेयओ दुविहं।
एयमिह मुणेयव्वं, सदारसंतोस मो इत्थ॥ ८५ ॥

८५. स्वपत्नी के अतिरिक्त अन्य व्यक्तियों की स्त्रियों – विधवाओं अथवा वेश्या आदि का त्याग करना स्वदारसन्तोष व्रत कहलाता है। इसके दो भेद हैं :– औदारिक और वैक्रिय। औदारिक शरीरधारी अर्थात् नारी और तिर्यञ्चि एवं वैक्रिय शरीरधारी अर्थात् विद्याधरी और देवियाँ।

85. To abstain from having extra-marital relationships with other women is known as the vow of being content with ones

lawful wife. This has two divisions — *audarik* (physical body) and *vaikriya* (ethereal body). (The *audarik* includes women and female-animals and the *vaikriya* includes goddesses.)

वज्जइ इत्तरिअपरिग्गहियागमणं अणंगकीडं च।
परवीवाहक्करणं, कामे तिव्वाभिलासं च॥ ८६ ॥

८६. श्रावक इस चौथे स्वदारसन्तोष व्रत के पाँच अतिचारों का त्याग करे :– १. इत्वरि परिगृहीता – इधर-उधर भटकने वाली नारी को धन देकर कुछ काल तक उसको साथ रखना या उसके साथ गमन करना। २. अपरिगृहीता – वेश्या, विधवा या कुलांगनाओं के साथ गमन करना, ३. काम क्रीडा करना, ४. दूसरों के विवाह करवाना और ५. काम सेवन की तीव्र इच्छा रखना।

86. A *shravak* should avoid the five transgressions of this fourth vow — to live for some time with or have carnal enjoyments with a roaming tramp by offering her money (1); to have extra marital relations with other women including prostitutes and widows (2); to indulge in other lascivious activities (3); to arrange marriages of others (4); and to have lascivious desires (5).

इच्छापरिमाणं खलु, असयारंभ - विणिवित्ति - संजणयं।
खित्ताइवत्थुविसयं, चित्तादविरोहओ चित्तं॥ ८७ ॥

८७. इच्छा-परिमाण अर्थात् इच्छाओं को सीमित करना परिग्रह-परिमाण व्रत कहलाता है। यह व्यर्थ के अकल्याणकारी हिंसक कार्यों की निवृत्ति का जनक है। यह क्षेत्र आदि वस्तुओं से सम्बन्ध रखता है और चित्त, वित्त, द्वेष, वंश आदि के आधार से अनेक प्रकार का है।

87. To limit desires is called the vow of limited possessions. This guards against useless evil activities. This is

connected with area, etc. and is of many types based on attitude, finance, aversion, family, etc.

खेत्ताइ - हिरण्णाई - धणाइ - दुपयाइ - कुप्पमाणकमे।

जोयण - पयाण - बंधण - कारणभावेहिं नो कुणइ॥ ८८ ॥

८८. क्षेत्र आदि, सोना-चाँदी आदि, धनादि, द्विपद - चतुष्पद आदि, कुप्यक अर्थात् ताँबा पीतल आदि के घर गृहस्थी के सामान के परिमाण/सीमा का चित्त विकार आदि के निमित्त से अतिक्रमण न करे।

88. Under the influence of some mental lapse, one should not transgress the resolved limitation with respect to quantity or measure, distribution, control, purpose or needs related to area (etc.); gold, silver, and other such precious things; wealth (etc.); slaves and cattle (etc.); and utensils of copper, brass (etc.).

उड्ढाहो - तिरिय - दिसिं, चाउम्मासाइ - कालमाणेणं।
गमणपरिमाणकरणं, गुणव्वयं होइ विण्णेयं॥ ८९ ॥

८९. चातुर्मास आदि – चार माह से अधिक महीनों के लिए ऊर्ध्व दिशा, अधो दिशा, तिर्यक् दिशाओं में जाने-आने की मर्यादा करना दिग्परिमाण नामक प्रथम गुण व्रत कहलाता है।

89. To set limits of movement in all directions including higher, lower, and diagonal during and after the four months of monsoon is the first *gunavrat* known as *digpariman gunavrat* or the discipline of directions.

वज्जइ उड्ढाइक्कममाणयणप्पेसणोभयविसुद्धं।
तह चेव खेत्तवुड्ढिं, कहिंचि सइअंतरद्धं च ॥ ९० ॥

९०. १ - ३. उभय विशुद्ध अर्थात् आनयन एवं प्रेषण द्वारा ऊर्ध्वदिशा, अधो दिशा, तिर्यक् दिशा का अतिक्रमण न करे।

४. एक क्षेत्र में कमी कर दूसरी दिशा में बढोतरी न करे। ५. नियम को भूल न जाए।

90. One should observe this vow with the two fold sincerity — avoid transgression of the said directional limitations through accepting and sending messages; and avoid adjustments like increasing limits of one direction by reducing those in the other. Do not forget the resolved limits.

वज्जणमणंतगुंबरिअच्चंगाणं च भोगओ माणं।
कम्माओ खरकम्माइयाण नवरं इमं भणियं॥ ९१ ॥

९१. अनन्तर उपभोग-परिभोग नामक द्वितीय गुणव्रत के दो भेद इस प्रकार कहे गये हैं :— भोजनाश्रित और कर्माश्रित। भोजनाश्रित अनन्तकायिक शाक (सब्जी), उदुम्बर आदि फल और मधु, मद्य, माँस आदि का तथा कर्माश्रित निष्ठुर व्यवसायों का वर्जन करे।

91. There are two divisions of the second *gunavrat* of consuming and enjoying — related to food and related to action. Under the first, one should refrain from consuming any vegetable that contains infinite life-forms (like multi-seed vegetables, root-vegetables, etc.); fruits like *Udumbar*; and honey, meat and alcoholic drinks. Under the second, one should also refrain from all cruel and callous commercial activities.

सच्चित्तं पडिबद्धं, अपउल - दुप्पउल - तुच्छभक्खणयं।
वज्जइ कम्मयओ वि हु, एत्थं इंगालकम्माई॥९२॥

९२. (उक्त भोजनाश्रित के पाँच अतिचार हैं :—) १. नियम से अधिक सचित्त भक्ष्य पदार्थ का उपभोग करना, २. सचित्त-संसक्त आहार, ३. अपक्व अर्थात् कच्चा आहार, ४. दुष्पक्व अर्थात् आधा पका आहार और ५. तुच्छ अर्थात् ऐसी वस्तु जिसमें खाने

योग्य कम और फेंकने योग्य भाग अधिक हो, का भक्षण करना। तथा कर्माश्रित अंगार-कर्म आदि पन्द्रह अतिचारों का त्याग करे।

92. There are five transgressions of the said rule related to food — to consume *sachit* food more then the set limits (1), food mixed with *sachit* food (2), raw or uncooked food (3), food that is not properly cooked (4), and low grade food (5). One should also avoid the fifteen transgressions of the second rule related to cruel business activities, such as working with fire (etc.).

तहऽणत्थदंडविरई, अन्नं स चउव्विहो अवज्झाणे।
पमयायरिए हिंसप्पयाण पावोवएसे य ॥९३॥

९३. इसी प्रकार **अनर्थदण्ड अर्थात्** बिना प्रयोजन के ही आत्मा को दण्डित करने वाले कृत्य रूप अनर्थदण्ड का त्याग तीसरा गुण व्रत कहलाता है। यह अनर्थ दण्ड चार प्रकार का है :— निष्प्रयोजन दुष्ट ध्यान, मद्यादि द्वारा प्रमादाचरण, हिंसक प्रधान आयुध शस्त्र आदि का प्रदान और पाप कर्मों का उपदेश।

93. The third *gunavrat* is refraining from unnecessary acts of torturing the soul (self and others). This is of four types — evil thinking (1), perverse behaviour (like that under the influence of alcohol) (2), distributing instruments of violence (like weapons) (3), and evil preaching (4).

कंदप्पं कक्कुइयं, मोहरियं संजुयाहिगरणं च।
उवभोगपरीभोगाइरेगयं चेत्थ वज्जेइ ॥९४॥

९४. इसके अतिचार पाँच हैं :— १. कन्दर्प (काम वासना) बढाने वाली वाणी का प्रयोग, २. कौत्कुच्य — भाण्ड की तरह नेत्र हाथ आदि के कुत्सित इशारे करना, ३. मौखर्य — धृष्टता के साथ असम्बद्ध प्रलाप करना, ४. संयुक्त अधिकरण — तलवार आदि हिंसक अस्त्र-शस्त्र एवं उखल-मूसल आदि का संग्रह करना

या दूसरों को प्रयोग हेतु देना और ५. उपभोग एवं परिभोग की वस्तुओं का अधिक संग्रह करना। गृहस्थ-उपासक इन (पाँचों) का परित्याग करे।

94. There are five transgressions of this rule : 1. use of erotic language, 2. lascivious and perverse gestures as done by clowns or eunuchs, 3. arrogant and irrelevant speech, 4. collecting weapons and giving those to others for use, 5. and hoarding of consumables and other things. One should avoid these five.

सिक्खावयं तु एत्थं, सामाइय मो तयं तु विण्णेयं।
सावज्जेयर - जोगाण वज्जणासेवणारूवं ॥९५॥

९५. यहाँ (श्रावक धर्म में) परम पद को प्राप्त कराने वाले व्रतों में प्रधान व्रत शिक्षा व्रत कहलाते हैं। इनमें राग-द्वेष से रहित समभाव की प्राप्ति रूप प्रथम शिक्षा व्रत सामायिक कहलाता है। यह हिंसाजनित एवं दूसरे पाप कर्म- व्यापारों का त्याग कारक है और स्वाध्याय आदि अनुष्ठानों का परिपालन कराने वाला है।

95. Here, in the codes for *shravak*s, the important vows that help attaining the loftiest status (*moksha* or the state of liberation) are known as the *shiksha vrat*s. The first of these is called *samayik* or equanimity, which is the state of mind free of any attachment and aversion. This helps in avoiding intentional sinful activities and indulging in religious activities including self-study and other essential duties.

मणवयणकायदुप्पणिहाणं इह जत्तओ विवज्जेइ।
सइअकरणयं अणवट्ठियस्स तह अकरणयं चेव ॥९६॥

९६. इस सामायिक व्रत में १-३. मन, वचन एवं काया के द्वारा दुष्प्रवृत्तियों का प्रयत्नपूर्वक परित्याग करे और सामायिक के विषय में ४. प्रमाद, ५. विस्मृति और असावधानी न रखे।

96. This vow is observed with sincerity and avoiding the following transgressions – to indulge in any and all sinful activities of mind, speech and body; to forget the theme of *samayik* due to excessive mental lethargy; and to do *samayik* with lack of concentration.

दिसिवयगहियस्स दिसापरिमाणस्सेह पइदिणं जं तु।
परिमाणकरणमेयं, अवरं खलु होइ विन्नेयं ॥९७॥

९७. (उक्त प्रथम गुणव्रत) दिक्‌परिमाण व्रतधारी श्रावक को प्रतिदिन अर्थात् दिन के प्रति प्रहर में पुनः दिशा परिमाण (सीमा निर्धारण) करना देशावकाशिक नामक द्वितीय शिक्षा व्रत कहलाता है।

97. The second *shiksha vrat* is the *deshavakashik vrat*. This entails revising the limits of the first *gunavrat*, i.e. directional limitations, everyday or every three hours.

वज्जइ इह आणयणप्पओगपेसप्पओगयं चेव।
सद्दाणुरूववायं, तह बहियापोग्गलक्खेवं ॥९८॥

९८. १-२. नियत क्षेत्र के बाहर से वस्तु मंगवाना, भिजवाना, ३. शब्द के द्वारा अथवा ४. शारीरिक संकेतों से अथवा ५. पत्थर आदि फेंककर अपनी इच्छा सूचित करना। इन पाँच अतिचारों का यहाँ वर्जन करे।

98. Here one should avoid the five transgressions — to get (1) things from or send (2) things to a point beyond the set limits, to convey one's intentions to others beyond the set limits by using sound (3), through gestures or other visual means (4), or throwing pebbles etc. (5).

आहार - देहसक्कार - बंभवावार - पोसहो अन्नं ।
देसे सव्वे य इमं, चरमे सामाइयं नियमा ॥९९॥

९९. आहार, शरीर-शुश्रूषा और अब्रह्मचर्य एवं कुत्सित प्रवृत्ति के त्याग रूप तृतीय शिक्षा व्रत पौषधोपवास कहलाता है। यह आंशिक और पूर्णत: के भेद से दो प्रकार का है। यहाँ चरम – पूर्णत: आहारादि व्यापारों के त्याग रूप पौषध व्रत अंगीकार करने पर सामायिक का लाभ अवश्यमेव प्राप्त होता है।

99. Abandoning food, care for the body, and carnal pleasures is the third *shiksha vrat* called *paushadhopavas*. This is of two types — partial and full. If one observes the full form of this vow he automatically attains the perfection in *samayik* ~~as~~ stated earlier.

अप्पडि - दुप्पडिलेहिय - पमज्जसेज्जाइ वज्जई इत्थं ।
सम्मं च अणणुपालणमाहाराईसु सव्वेसु ॥१००॥

१००. यहाँ (पौषधोपवास व्रत में) १. भूमि एवं शय्या संस्तारक, कंबली एवं वस्त्रादि उपधि का तथा मलमूत्र विसर्जन करने की भूमि का अवलोकन नहीं करना, २. सम्यक् प्रकार से अवलोकन नहीं करना, ३. प्रमार्जन नहीं करना, ४. अच्छी तरह से प्रमार्जन न करना तथा ५. पौषध के नियमों का सम्यक् प्रकार से पालन न करना – ये पाँच अतिचार हैं। साधक उक्त पाँच अतिचारों का त्याग करे।

100. One should avoid the following five transgressions of this vow— not to methodically inspect and clean bed, blanket, clothing, etc. and not to observe the rules of *paushadh* in accordance with the laid down procedure.

अन्नाईणं सुद्धाण कप्पणिज्जाण देसकालजुअं।
दाणं जईणमुचियं, गिहीण सिक्खावयं भणियं ॥१०१॥

१०१. देश एवं समय के अनुसार शुद्ध अर्थात् न्यायोपार्जित एवं उद्गमनादि दोष से रहित कल्पनीय भोजन, पान, वस्त्र, औषधि आदि का मुनिजनों का दान करना। यह श्रावकों का चौथा शिक्षाव्रत अतिथिसंविभाग व्रत कहलाता है।

101. The fourth *shiksha vrat*, called the care of the guest or *atithi samvibhag vrat*, is — to donate to ascetics food, water, clothing, medicines, etc. which are pure according to time and place. Here pure means that which is rightly earned, free of any faults include the fault of origin, and acceptable according the prescribed codes of ascetic conduct.

सच्चित्तनिक्खिवणयं, वज्जइ सच्चित्तपिहणयं चेव।
कालाइक्कमपरववएसं मच्छरिययं चेव ॥१०२॥

१०२. इस व्रत के निम्न पाँच अतिचार हैं :— १. अचित्त वस्तु को सचित्त वस्तु पर रखना, २. सचित्त वस्तु से आच्छादित करना, ३. आहार का समय बीत जाने पर भोजन आदि बनाना, ४. देने की इच्छा से अपनी वस्तु को दूसरों की बतलाना और ५. मात्सर्य भाव से दान देना। इनका गृहस्थ परिहार करे।

102. The transgressions of this vow are — to put *achit* (not infested with living organisms) thing on a *sachit* (infested with living organisms)thing; to cover something *achit* by a *sachit* thing; to prepare food after the prescribed time has passed; to avoid giving by claiming one's own thing as belonging to others; and to give with malice. One should avoid all these.

एत्थं पुण अइयारा, नो परिसुद्धेसु हुंति सव्वेसु।
अक्खंडविरइभावा, वज्जइ सव्वत्थओ भणियं ॥१०३॥

१०३. यहाँ पुन: प्राणातिपात आदि बारह व्रतों में कदाचित भावों की निर्मलता न रहने पर जो अतिचार-दोष लग जाते हैं उनका अखण्ड विरति भाव से परित्याग करे, ऐसा आगमों में सर्वत्र कहा है।

103. It is stated in the *Agams* that one should avoid, with an attitude of absolute abstinence, any or all faults of transgressions of all these twelve vows including non-killing, etc. that may be caused by the lack of purity of attitude.

सुत्ता उवायरक्खणगहणपयत्तविसया मुणेयव्वा।
कुंभारचक्कभामगदंडाहरणेण धीरेहिं ॥१०४॥

१०४. धीर पुरुषों को पुन:-पुन: आदरपूर्वक धर्म का श्रवण कर अगृहीत व्रतों को ग्रहण करने का प्रयत्न करना चाहिए। गृहीत व्रतों को रक्षण करने के उपाय करना चाहिए। इसे सूत्रोक्त कुंभकार के चक्र-भ्रामक-दण्ड के उदाहरण से समझना चाहिए।

104. The patient persons should listen to religious preaching again and again. He should try to accept the vows and become steadfast in observing them taking inspiration from the examples of **Kumbhakar** (potter), **Chakra** (wheel or moving disc), **Bhramak** (itinerant or gypsy), and **Dand** (staff or club) mentioned in the scriptures.

गहणा उवरि पयत्ता, होइ असंतो वि विरइपरिणामो।
अकुसलकम्मोदयओ, पडइ अवन्नाइ लिंगमिह ॥१०५॥

१०५. व्रत ग्रहण के पश्चात् भी पुन:-पुन: उनके रक्षण का प्रयत्न होने पर विरति के अध्यवसास अविद्यमान होने पर भी जाग्रत हो जाते हैं, अन्यथा (व्रत परिणामों में शिथिलता आने के

कारण) कषाय आदि अशुभ कर्मोदय से उन व्रतों से पतित होकर व्यक्ति निन्दा/अनादार आदि का पात्र बन जाता है।

105. After accepting the vows the continued efforts to remain steadfast in observing them cause the awakening of the feeling of detachment. If not, the strictness in observing the vows is reduced; consequently, due to rise of vile passions or evil *karmas*, the aspirant falls from his accepted level of vows and attracts criticism and disrespect.

तम्हा निच्चसईए, बहुमाणेणं च अहिगयगुणम्मि।
पडिवक्खदुगुंछाए, परिणइआलोयणेणं च ॥१०६॥

तित्थंकरभत्तीए, सुसाहुजणपज्जुवासणाए य।
उत्तरगुणसद्धाए, एत्थ सया होइ जइयव्वं ॥१०७॥

१०६-१०७ अतएव श्रावक सर्वदा ध्यानपूर्वक अतिशय आदर के साथ गृहीत व्रत आदि की स्मृति रखे और उन के प्रतिपक्षी – मिथ्यात्व प्राणीवध आदि दुर्गुणों के दारुण फलों को देखकर उनकी आलोचना करे। तीर्थंकरो की भक्ति और सुसाधुजनों की पर्युपासना करते हुए श्रद्धापूर्वक उत्तरगुणों के लिए उसको सर्वदा उद्यम करना चाहिए।

106, 107. Therefore a *shravak* should always, with self-awareness and extreme respect, work hard to be steadfast in observing these vows. While doing this he should examine and condemn their opposites, such as unrighteousness, falsehood, killing of beings, etc., along with their terrible consequences. He should worship the *Tirthankars*, admire the great ascetics, and sincerely desire to accept the secondary virtues.

एवमसंतो वि इमो, जायइ जाओ वि न पडइ कयाई।
ता इत्थं बुद्धिमया, अपमाओ होइ कायव्वो ॥१०८॥

१०८. इस प्रकार यथार्थ में पूर्ण संयम के अविद्यमान होने पर भी उसमें विरति-परिणाम होते हैं। विरति परिणाम होने से उसका पतन कदापि नहीं होता है। अतएव बुद्धिमान श्रावकों को इस सम्बन्ध में सदैव अप्रमत्त होकर गृहीत व्रतों की स्मृति रखना चाहिए।

108. This way one acquires the attitude of detachment which he was devoid of till now. Once acquired it is never destroyed. Therefore a wise *shravak* should always work for that without any laxness.

एत्थ उ सावगधम्मे, पायमणुव्वयगुणव्वयाइं च।
आवकहियाइं सिक्खावयाइं पुण इत्तराइं ति ॥१०९॥

१०९. अत्र प्रस्तुत श्रावक धर्म में प्राय: पाँच अणुव्रतों और तीन गुणव्रतों को यावज्जीवन के लिए धारण किया जाता है। पुन: चार शिक्षा व्रतों को निश्चित समयावधि के लिये धारण करे। इनमें भी सामायिक और देशावकाशिक व्रत प्रतिदिन अनुष्ठेय है और पौषधौपवास एवं अतिथि संविभाग व्रत उनके लिए अंगीकृत नियत तिथि में अनुष्ठान करने योग्य है।

109. In *shravak-dharm* the five minor vows and the three *gunavrats* are often accepted once for whole life. The *shiksha vrats* are to be accepted for shorter periods. This means that *samayik* and *deshavakashik* vows are to be taken again and again everyday. *Paushadhopavas* and *atithi-samvibhag* are to be taken and observed on specific dates and during the period when ascetics visit the town.

संलेहणा य अंते, न निओगा जेण पव्वयइ कोई।
तम्हा नो इह भणिया, विहिसेसमिमस्स वोच्छामि ॥११०॥

११०. जीवन की सान्ध्य वेला में (श्रावक के लिये) संलेखना अर्थात् समाधिमरण ग्रहण करना आवश्यक कर्त्तव्य नहीं है। इसी कारण यहाँ संलेखना का वर्णन/प्रतिपादन नहीं किया है। श्रावक के व्रतों में अनुक्त शेष कर्त्तव्यों का वर्णन आगे किया है।

110. It is not an essential duty of a ***shravak*** to perform the ultimate vow of *Sanlekhana*, widely mentioned in the *Agams*, during the last part of one's life. This is because, so detached a ***shravak*** can get initiated as an ascetic or take *diksha* any time. Therefor *Sanlekhana* has not been discussed here. The remaining duties of a *shravak* are detailed as follows.

निवसेज्ज तत्थ सड्ढो, साहूणं जत्थ होइ संपाओ।
चेइयहराइं य जम्मि, तयन्नसाहम्मिया चेव ॥१११॥

१११. श्रावक उस नगर में निवास करे जहाँ साधुओं का आगमन होता हो, जिन मन्दिर हो और साधर्मिक श्रावकगण रहते हों।

(अब श्रावक के प्रतिदिन करणीय कर्त्तव्यों का वर्णन करते हैं :–)

111. A *shravak* should live in a town where ascetics visit frequently, *Jina*-temples exist, and co-religionist *shravaks* live.

(Now the everyday duties of a *shravak* are mentioned here —)

नवकारेण विबोहो, अणुसरणं सावगो वयाइम्मि।
जोगो चिइवंदण मो, पच्चक्खाणं च विहिपुव्वं ॥११२॥

११२. निद्रा से जागृत होते ही नमस्कार मन्त्र का स्मरण करे, फिर मैं श्रावक हूँ , व्रतधारी हूँ – ऐसा चिन्तन करे। मनसा, वाचा और कर्मणा त्रियोग से जिनमन्दिर में जाकर चैत्यवन्दन करे। तत्पश्चात् साधुओं को वन्दन कर एवं उनसे विधिपूर्वक प्रत्याख्यान ग्रहण करे।

112. As soon as one wakes up he should recite the *Namokar mantra*. One should consciously recall that he is a *shravak* who has taken vows. Going to a *Jina*-temple he should, with three means (mind, speech, and action), worship the image (this is known as *chaityavandan*). He should pay homage to ascetics and perform the critical review (this is known as *pratyakhyan*) according to the prescribed procedure.

तह चेईहरगमणं, सक्कारो वंदणं गुरुसगासे।
पच्चक्खाणं सवणं, जइपुच्छा उचियकरणिज्जं ॥११३॥

११३. इसी प्रकार चैत्यघर अर्थात् जिनमन्दिर में जाकर जिनबिम्ब की पूजा-अर्चना करे, उसके पश्चात् गुरु के पास जाकर प्रत्याख्यान ग्रहण करे, प्रवचन सुने, उनकी सुख-शाता पूछे और उनकी सेवा-शुश्रूषा हेतु उचित एवं करणीय कर्त्तव्य करे।

113. When in the *Jina*-temple he should venerate and worship the *Jina*-image (according to the prescribed procedure known as *puja*). After that he should go to the guru and perform *pratyakhyan*, listen to his discourse, ask about his welfare, and perform the required duties of taking his care and doing his service.

अविरुद्धो ववहारो, काले तह भोयणं च संवरणं।
चेइहरागमसवणं, सक्कारो वंदणाई य ॥११४॥

११४. श्रावक धर्म-सम्मत आचरण करे। समय-समय पर भोजन का त्याग करे। जिनमन्दिर में जाकर जिन प्रतिमा की आदरपूर्वक पूजा-अर्चना करे और गुरु के समीप जाकर वंदनादि कर्त्तव्य कर उनसे धर्मदेशना श्रवण करे।

114. His behaviour should conform to the religious teachings. On occasions he should observe fasts or limit the food intake. He should regularly go to the *Jina*-temple to pay homage and worship. He should also be regular in going to the guru to pay homage and listen to his discourse.

जइविस्सामणमुचिओ, जोगो नवकारचिंतणाईओ।
गिहिगमणं विहिसुवणं, सरणं गुरुदेवयाईणं ॥११५॥

११५. अपनी सामर्थ्य के अनुसार साधुजनों की सेवा-शुश्रूषा करे। नमस्कार मन्त्र का जप करे, पूर्वपठित प्रकीर्णक आदि ग्रन्थों का अनुस्मरण करे। घर जाकर देव-गुरु की शरण लेकर विधि से शयन करे।

115. He should serve the ascetics to the best of his capability. He should recite the *Namokar mantra* and study religious texts to the best of his ability. When he returns home and retires to bed, he should follow the prescribed procedure of going to sleep by formally seeking refuge with his guru and his deity.

अब्बंभे पुण विरई, मोहदुगंछा सतत्तचिंता य।
इत्थीकडेवराणं, तव्विरएसुं च बहुमाणो ॥११६॥

११६. शयन करते समय स्वस्त्री से भी कामवासना का त्याग करे। काम-वासना एवं कषाय जनित मोह की निन्दा करे।

स्त्री की गंदगी युक्त शरीर-रचना का सतत पर्यालोचन करे और ब्रह्मचारियों का बहुमान करे।

116. While preparing to sleep he should detach himself from lustful sexual indulgence even with his own wife as it contravenes celibacy. He should condemn the fondness inspired by lust, repeatedly do a critical review of the hazardous female body, and revere those who have taken the vow of celibacy.

सुत्तविउद्धस्स पुणो, सुहुमपयत्थेसु चित्तविन्नासो।
भवठिइनिरूवणे वा, अहिगरणोवसमचित्ते वा ॥११७॥

११७. पुन: निद्रा से जागृत होने पर नव तत्त्वों के सूक्ष्म चिन्तन में मन को लगाए। भव-स्थिति का पर्यालोचन करे। कलह, संघर्ष, वाद-विवाद हो जाने की स्थिति में उद्विग्न मन को उपशान्त करे।

117. When he wakes up he should indulge in contemplation of the subtle concepts of fundamentals. He should review the cyclic nature of rebirth. In situations of quarrel, confrontation, and debate he should pacify the agitated state of mind.

आउयपरिहाणीए, असमंजसचेट्ठियाण व विवागे।
खणलाभदीवणाए, धम्मगुणेसुं च विविहेसुं ॥११८॥

११८. जीवन की सान्ध्य बेला में असदाचरण के दारुण फल विपाक का चिन्तन करे और अल्पकाल में ही कर्म निर्जरा के द्वारा आत्म तेज को प्रकट करने वाले विविध धार्मिक अनुष्ठानों में मन को स्थापित करे।

118. At the dusk of his life he should ponder over the consequences of evil deeds and misconduct. Also he should direct his thinking towards various religious virtues and duties that are instrumental in producing self enlightenment through shedding of *karmas*.

बाहगदोसविवक्खो, धम्मायरिए य उज्जुयविहारे।
एमाइचित्तनासो, संवेगरसायणं देइ ॥११९॥

११९. अध्यवसायों को कलुषित अथवा दूषित करने वाले कार्यों में चित्त वृत्ति का निक्षेप नहीं करे। अपितु अप्रतिबद्ध विहारी संयमी धर्माचार्यों के चरणों में मन को स्थिर करे। इस प्रकार अपने प्रमादाचरण का पर्यालोचन अर्थात् वैराग्य रूपी रसायन को प्रदान करने वाला है।

119. He should divert his mind from the activities that tarnish or malign thoughts and focus his thoughts at the feet of the religious teachers who indulge in harsh austerities. This critical review of the illusions and inactivity of the self is the provider of the ambrosia of detachment or intense craving for liberation from cycles of rebirth.

गोसे भणिओ य विही, इय अणवरयं तु चिट्ठमाणस्स।
भवविरहबीयभूओ, जायइ चारित्तपरिणामो ॥१२०॥

१२०. प्रात:काल से लेकर शयन क्रिया पर्यन्त पूर्व प्रतिपादित विधि का जो निरन्तर अनुष्ठान करता है वह श्रावक भव-विरह अर्थात् संसार चक्र से मुक्ति के हेतु सर्वविरति रूप चारित्र को प्राप्त करता है। ऐसा भवविरह पदांकित आचार्य श्री हरिभद्रसूरि का कथन है।

120. Since getting up in the morning till he sleeps at night, the *shravak* who always observes properly the codes mentioned here attains the state of *sarvavirati charitra* (conduct of total-abstinence) that is instrumental in liberation from cycles of rebirth. Thus says Acharya Haribhadra Suri, the one who has stepped on the path of liberation.

卐 卐 卐

GLOSSARY

abhavya = unworthy of liberation.

acharya = religious teacher; head of the ascetic order.

achit = free of living organism.

adattadan = to take what is not given.

Agams = Jain canons.

ahimsa = non-harming; to cause, under the influence of illusion or passions, harm or pain or death to some being by thought, speech, or action is known as *himsa* (this Hindi term envelopes the meaning conveyed by English words like violence, harm, termination of life, transgression, aggression, rudeness, and many others). The absence of himsa is *ahimsa*. *Ahimsa* also includes the attitudes of compassion, altruism, amnesty, fraternity, and equality towards all living beings.

anuvrats = minor-vows

arambh = ill-intent; desire to indulge in evil activities.

Arhat = one who has become the object of reverence through his virtues.

Arihant, *Arhant* = Jain *Tirthankar*.

atichar = causes or acts that tarnish or weaken a resolve or vow.

ativyapti dosh = the fault of total spread

audarik = related to the physical body.

aupashamik = gained through suppression of *karmas*.

Avadhi-jnana = extrasensory perception of the physical

brahman = the first of the four castes among the followers of Vedic religions in India, traditionally responsible for religious and educational activities.

chaitya = a temple complex.

charan-karan = the basic and auxiliary attributes of discipline.

darshanachar = the conduct of perception / faith.

diksha = to get formally initiated as an ascetic.

Dvadashangi = the twelve canons believed to contain the preaching of Bhagavan Mahavir.

ganadhar = a principal disciple of a *Tirthankar*.

Ganipitak = the scriptures written and elaborated by the *ganadhars*.

grihi dharm or *grihastha dharm* = householder's conduct.

*gunavrat*s = restraints that reinforce the practice of *anuvrat*s.

ichhachhand = see *yathachhand*

Jina = victor of senses; one who has absolutely disciplined his senses.

Jnanavaraniya karma = the knowledge obscuring *karma*

karan = means

karma = subtle matter particle (s) that adhere to soul and cause sufferance.

kshatriya = the second of the four castes among the followers of Vedic religions in India, traditionally responsible for martial activities including ruling.

kshayik = gained through destruction of *karma*s.

*kshayopashami*k = gained through destruction-cum-suppression of *karma*s.

mithyatva = unrighteousness; false perception or belief

paushadh = partial ascetic vow under which a householder lives like an initiated ascetic for a specific period.

prabhavak = those who influence or popularize

prabhavana darshanachar = the conduct of popularising religion.

sachit = infested with living organism.

sadhu = a Jain ascetic.

samayik = a Jain method of meditation aimed at attaining equanimity.

samyaktva = the equanimous right conduct; righteousness; right perception; a specific state of righteousness where right perception and right knowledge start translating into right conduct.
sanlekhana vrat = the ultimate vow of fasting till liberation (or death) and transcending into meditation without any desire for death.
shiksha vrats = vows of spiritual discipline.
shravak = one who listens to the preaching of the *Jina*; Jain layman.
shravak dharm = the code of conduct for the laity.
shravak-vrats = vows of a *shravak.*
shudra = the fourth of the four castes among the followers of Vedic religions in India, traditionally responers of Vedic religions in India, traditionally responsible for serving and m*anu*al labour.
sushrusha = taking care of others; attènding to the needs of others
suvihits = *shravaks* having authentic knowledge of codes.
teerth = the religious ford.
Tirthankar = ford (religious) makers.
upashraya = a place of stay for Jain ascetics.
upbrimhan = to commend in order to encourage.
vaishya = the third of the four castes among the followers of Vedic religions in India, traditionally responsible for business and trading activities.
vaikriya = related to the ethereal body.
viuguccha (vitigiccha) = to have disliking for or to speak ill of a scholar or a *sadhu.*
yathachhand = wayward; who do not follow the codes at all.

卐 卐 卐

श्रावकधर्मविधिप्रकरणगाथाकाराद्यनुक्रमः।

गाथाद्यपादः	गाथा
अइसेसइड्ढिधम्म–	६७
अन्नाईणं सुद्धाण	१०१
अप्पडिदुप्पडिलेहिय–	१००
अब्बंभे पुण विरई	११६
अविरुद्धो ववहारो	११४
अह मन्नसि होइ च्चिय	४३
अह सो सम्मद्दिट्ठी	४५
अहिगारिणा खु धम्मो	३
आउयपरिहाणीए	११८
आरंभे मिच्छत्ते	३८
आरंभे विव मिच्छे	३७
आह तिहाऽणुभई जं	३५
आहारदेहसक्कार	९९
इच्छापरिमाणं खलु	८७
इड्ढीओ णेगविहा	५८
इय आरंभेऽणुमई	४१
इय मिच्छाओ विरमिय	४४
इय सपरपक्खविसयं	३१
इहरा ठएइ कणे	२९
इह सहसब्भक्खाणं	८२
उचियं सेवइ वित्तिं	७
उड्ढाहोतिरियदिसिं	८९
उस्सुत्तमणुवइट्ठं	२४
उस्सुत्तमायरंतो	२३
उस्सुत्तं पुण एत्थं	२६
एए पुण विणेया	८
एएसुं चिय खवणा–	६२
एएहिं तदहिगारि–	१२
एत्तो च्चिय तेसिमुव–	२८
एत्थ उ सावगधम्मे	१०९
एत्थ य पासत्थाई–	२२
एत्थं पुण अहयारा	१०३
एमाइ बहुविगप्पं	२७
एयं अणंतरुत्तं	३२
एवमसंतो वि इमो	१०८
एवं वाया न भणइ	३३
एवं संवासकओ	४२
ओगाहइ तत्थेव उ	५१
करदाणेण य सव्वे	४०
करसन्नभमुहखेवा–	३४
कामं सहावर्सिं	६४
कालतिएण य गुणिया	७६
कंखा देसे एगं	५३
कंदप्पं कुक्कुइयं	९४

गाथाद्यपादः	गाथा
खवणे वेयावश्चे	६१
खेत्तइहिरणाई	८८
गहणा उवरि पयत्ता	१०५
गिहि धम्मकहापीई	९
गुरुमूले सुयधम्मो	७९
गुरुविणओ तह काले	१०
गोसे भणिओ य विही	१२०
जइविस्सामणमुचिओ	११५
जइ राया सिड्डजणो	३९
जं सा अहिगयराओ	७०
तत्तत्थसद्दहाणं	६८
तत्थ तिहा सम्मत्तं	१४
तत्थहिगारी अत्थी	४
तम्हा निश्चसईए	१०६
तह अणतित्थियाणं	१९
तह चेईहरगमणं	११३
तह णत्थदंडविरई	९३
ता कह संवासाणुम–	३६
तिणि तिया तिणि	७४
तित्थंकरभत्तीए	१०७
तिविहं तिविहेणिक्को	७५
तुल्ले जीवत्ते कह	५०
थूलगपाणिवहस्सा	७८
थूलमुसावायस्स य	८१
थूलादत्तादाणे	८३
दिसिवयगहियस्स दिसा	९७
धिज्जाईयगिहीणं	६०

गाथाद्यपादः	गाथा
न करेइ सयं मिच्छं	१५
नमिऊण वद्धमाणं	१
नवकारेण विवोहा	११२
निववेज्ज तत्थ सड्डो	१११
निस्संकिय निक्कंखिय	४६
निस्संकियाइरूवं	४७
परदारस्स य विरई	८५
परलोगहियं सम्मं	२
पासत्थोसणकुसीलं–	२१
पुव्वपुरिसा जहोइय	५६
पूयं च असणपाणा–	५९
पंच उ अणुव्वयाइं	७२
बाहगदोसविवक्खो	११९
बंधवहछविच्छेयं	८०
भंगसयं सीयालं	७३
मणवयणकायदुप्पणि–	९६
मिच्छत्तमणेगविहं	१६
लोगुत्तमदेवम्मि वि	१८
वज्जइ इत्तरिअपरि–	८६
वज्जइ इह आणयण–	९८
वज्जइ इह तेणाहड	८४
वज्जइ उड्डाइक्कम	९०
वज्जणमणंतगुंबरि	९१
वयणविसंवायाओ	३०
विउगच्छ त्ति व गरहा	४९
विचिगिच्छ देस एगं	५५
विचिगिच्छाए विज्जा–	५७

गाथाद्यपादः	गाथा	गाथाद्यपादः	गाथा
वंदणपूयणसक्कार–	२०	साहम्मियवच्छल्लि	६६
वंदणमेयं मल्लाइ	१७	सिक्खावयं तु एत्थ	९५
सचित्तनिक्खिवणयं	१०२	सुत्तविउद्धस्स पुणा	११७
सच्चित्तं पडिबद्धं	९२	सुत्ता उवायरक्खण–	१०४
सच्छंदमइविगप्पिय	२९	सुत्तापडिकुट्ठो जो	६
सम्मत्तमूलिया ऊ	१३	सुलसा अमूढदिट्ठी	६५
सम्मा पलियपुहुत्ते	७१	सुस्सूस धम्मराओ	६९
सव्वजणवल्लहत्तं	११	संभवमहिगिच्चेयं	७७
सव्वे दुवालसंगं	५२	संलेहणा य अंते	११०
सव्वे सव्वमयाइं	५४	संसयकरणं संका	४८
साहम्मियवच्छल्लं	६३	होति समत्थो धम्मं	५

卐 卐 卐

प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर

पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी

Design By: AKAR PRAKAR Jpr. 610592